

(ଉ. — ଉତ୍ତରାମା)

କୁଳକଣ୍ଠ

ଶିଖିଲିପିରେ କଥା କଥା କଥା
କଥା କଥା କଥା କଥା କଥା

କଥା କଥା କଥା କଥା କଥା କଥା
କଥା କଥା କଥା କଥା କଥା କଥା
କଥା କଥା କଥା କଥା କଥା କଥା
କଥା କଥା କଥା କଥା କଥା କଥା
କଥା କଥା କଥା କଥା କଥା କଥା
କଥା କଥା କଥା କଥା କଥା କଥା
କଥା କଥା କଥା କଥା କଥା କଥା
କଥା କଥା କଥା କଥା କଥା କଥା
କଥା କଥା କଥା କଥା କଥା କଥା

ଶିଖିଲିପି

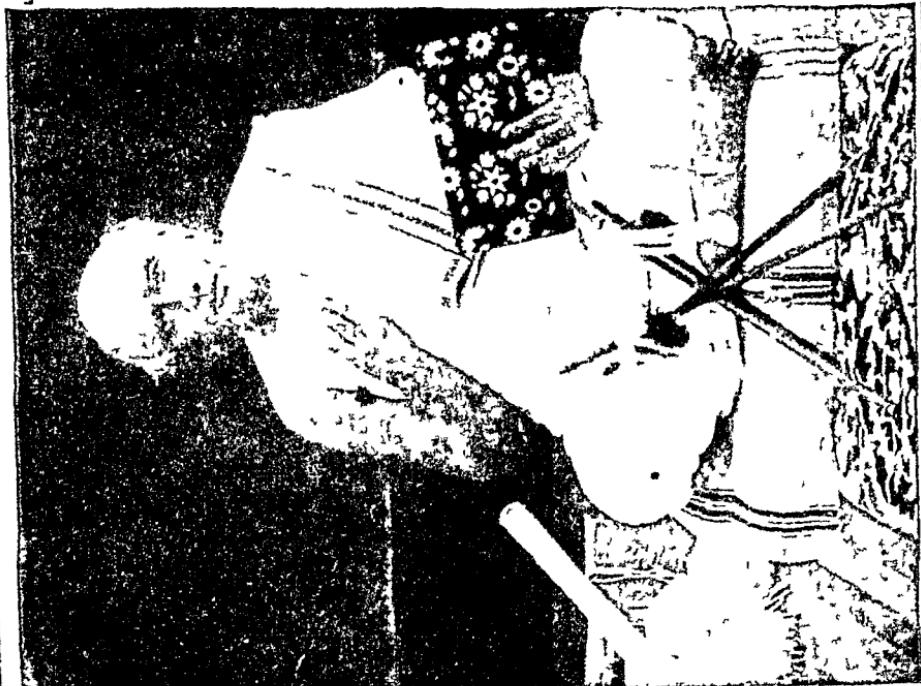
गणीपद
 वि सं १९५७
 आपाड़ सुर्दी ११
 सुरत —————
 प्रशान्ति तपोमृति पूज्यपाद
 चारित्रवृद्ध तपागच्छालकार
 शामनप्रभाचक संघ विर
 आचार्यवर्ष्य १००८

महाराजा.

गणीपद
 वि सं १९११
 आपाड़ सुर्दी १५
 सुरत —————

पन्थासपद
 वि. म १९५७
 आपाड़ सुर्दी ११
 सुरत —————

आचार्याद्य
 वि. प. १९७५
 महा सुर्दी ५
 महेसाणा —————



जन्म
 वि. सं. १९११
 आचार्य उर्दी १५
 अमदाबाद
 —————
 वाह्मापुर्योजिता सिता गतमदा
 दिनामुखेऽधात्मण
 चेपां चित्तवि द्रुताजितनिशा—
 नाशः कलङ्कं दधी;
 ते दुग्धामृतिशुद्धकीर्तिनिशा

अमदाबाद
 वृहदीशा
 वि स १९३४
 अपाड़ सुर्दी १३
 अमदाबाद
 —————

भड्यात्मा माजाममी,
 कलयाणं रचयन्तु सिद्धिविजया;
 सूरिवर्गः सर्वदा ॥
 ते दुग्धामृतिशुद्धकीर्तिनिशा

अपाड़ सुर्दी १३
 अमदाबाद
 —————

નારીઓ માટે જીવનની પ્રાણી વિધાન

નારીએ કરીને કૃતિ શિલ્પ દી ઠે-ન કાલેનીને
કરીને કરીને કરીને કરીને કરીને કરીને

નારીએ નારીએ નારીએ નારીએ નારીએ

ની. નિયત રીતે એવી દુનિયાની પ્રાણી જીવની
જીવની વિશ્વાસી વિશ્વાસી વિશ્વાસી વિશ્વાસી
જીવની વિશ્વાસી વિશ્વાસી વિશ્વાસી વિશ્વાસી

એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ.

એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ.
એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ.
એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ.
એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ.
એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ.

એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ.

એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ.
એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ.
એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ.
એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ.
એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ. એ.

॥ श्रीद्वयसप्तकानुं · द्विषत् दिग्दर्शनं ॥

॥ १ ॥

अनंत उपकरि अमणभगवान् श्री महावीर परमात्मने प्रणमीने, ते महाप्रभुना श्रुतसागरमां सर्वं निर्दिष्ट वल्लभो होइ, तेमांनी श्री चैत्य, गुरु, ज्ञान, साधारण, अने धर्मनी निश्रावाल्या द्रव्यनी सुंदर प्रकारे करायली न्यवस्थावाल्ये “दृढ़सित्तरी” ना पुण्यप्रसंगे तथाप्रकारना शुभ दिग्दर्शनमां प्रवेश करतो हुं अति हर्ष पासु छुं प्रस तारकना पुण्य चिह्नों सुप्रसंग पामी, भवमीर भवयात्माओं स्वोपार्जितादि द्रव्यादिनी भक्ति आदिए भवमध्यन निवारणनी विज्ञासि कोरे, ए सहज छे. अने आथी “ तेनी ” सुंदर प्रकारनो न्यवस्था स्वाभाविक होय, ए पण असहज नथी. ते सुंदर न्यवस्थाना मृढ़भूत हस्तशी अज्ञात बाल्जीबोने तथाविष न्यवस्थानो भक्तिआदिनी धरायेल द्रव्यना सटुपयोगना कारणे, अने ते ते प्रकारनी आशातना निवारणना कारणे, शुभमार्ग-दर्शक शुभ प्रश्वास करवो, ए पण अस्थाने नथी. ते ते शुभमार्गदर्शक प्रश्वास अनेक प्राचिन पुरुषो श्रीसर्वज्ञविमुद्घमार्ग द्वारा करता आड्या छे, अने सां-प्रतकाळे अवर्जीन पुरुषो पण करे छे.

श्रीद्वयसप्त ना कर्ता महापुरुष पण एक प्राचिन पुरुष छे. तेओश्री जैन श्रमण होवा उप-रंगत अमणदुष्टानद्वारा पाठक (उपाख्याय) पदथी अलंकृत हता. तेओश्रीना सदगुरुवरतुं शुभ नाम सौरिपुंगव श्रीमद् विजयभानुभूतीश्वरजी महाराजा हहुं. आ सुरोश्वरजीना गुरुवरनुं पुण्याभिधान आचार्यदेव श्रीविजयमानसुरीश्वरजी महाराजा हहुं. तेओश्री तपा बिरुदथी अलंकृतना कारणे प्रव्यात शुभ चिह्न ल्लरुप तपागच्छीयमाना एक हता. पाठक ग्रन्त श्रीलोचणविजयजी गणिवेरे आ द्रव्यसप्तकिका अंग—“**मृथंतरगाहाद्विं समतिथ्या दृच्च-सित्तरी प्रसा**” ए द्वारा स्पष्टपणे निवेद्यु छे के—महे आ द्रव्यसप्तकिका नामा ग्रंथ इतर प्रश्नोनी गाशाओद्वारा समर्थित कर्यो छे. तेओश्रीए आम इतरं. शोनी गाशाओं कथा कथा ग्रंथांशी नूटो छे, ते पण ‘श्री पंचाशक्ती’ ‘श्री श्राव्यदिनकृत्य’ इत्यादि महायं थोना नामनो उल्लेख करवा विगोरे द्वारा केट-

लेक स्थले रप्टपणे निहेश पण कर्ये हे. वृत्तिनी इच्छा करतां उपाध्यायजी श्री वण्डविजयजी गणिकर पूर्व महापुरुषोए बनावेला महागंथोमाना

अमृतोद्घासने स्मरणमां लाळ्या विना रह्या नथी. अने ते साथे ते ते महागंथोनां नामो विगेरेनो उल्लेख पण तेझोशी कर्येज गया हे.

आ प्रंशनी प्रमाणिकता सुंदर प्रकारनी हे वांचक जोइ शाकरे के—आ प्रंथमा ठेंडेर 'श्रीपंचाशकवृत्ति, घर्मपरिक्षा, आद्विविधि, सम्यक्त्ववृत्ति, प्रश्नोत्तरसंग्रह, उपदेशपद, बृहद्भाष्य, संधाचारवृत्ति, विचारसाप्रकरण, बृहच्छांतिस्तोत्र, आद्विदिनकृत्य, महानिशीथसूत्र, त्रिपात्रीशलाकापुरुषचरित्रिन् आध-पर्व, प्रचाचरित्र, व्यवहारभाष्य, संधकुलक, छेदसूत्रभाष्य, जोतृयवहार, संदेहदोलावली, श्रीप्रज्ञापत्रासूत्रभाष्यपद, निशीथनूर्णि, मूलशुद्धिप्रकरण, श्रीचंद्रकेव-लीचरित्र, शान्तंजयमाहात्म्य, आवक्त्रकरुद्धन, श्राद्धजीतकल्प, सम्यक्त्वकल्प, व्यवहारसूत्र, पोडशाक, विगेर महागंथोनी साध्कीदारा आ प्र थनी प्रमाणिकता कोइ अनेरी भात पाढे हे. कर्युं दृव्य कह निशानुं गणाय ! ए विगेरेनुं स्पष्टीकरण शंकाशील आत्माओने शंका निवारण माटे अपूर्वे रामचाण स्वरूप आ प्रंथमां छापचामां आवेढुं हे. आगमसापेक्षपणे विविध प्रकारनी युक्तिओ पण आहाद्देने उपन करावे तेवी हे. खरेज सुमागने नीरखी आनंद लहरी केम न वहे ! पण साथे सुवादाना संगथी विरक, दुर्भाग्यवरी दुर्भागी वनेला, विचारा पासर आत्माओने, के—जेझोने सुंदर नयवस्था सामे चेडा करवानो अभ्यास अने ओडकार हे, तेझोने माटे आवा सुर थो सुखानावने निपजाववा समर्थ हे ? लाग्मग निखिल जगत् सूर्य अ-गमननी प्रातःकाले राह जोइ रहे हे, अने ते द्वारा जीवनयात्रानो सुसंयोग माने हे. पण ते सूर्योगमन विचारा घूको, के स्तेनोने शूलस्वरूप निवडुं होवाशी शुखाभावनाकुं होय, ए पण एक अटल अनादिनो प्रसार हे.

विशेषता ए. आसन भव्योने उद्देशीने फरमावायलां सद्गुरुषानो विगेरे ते ते प्रकारना सख्वोने सुगमताए महफळने नजदीकना समयमां समर्पनारां थाय हे ए. कारणे—“सत्रिजीव करुं शासनरसी” नी विशाळ भावनावाळा महापुरुषोए सदनुष्ठानोना संदेशाखो जगतुने वारंवार संभळाव्या हे. ते महापुरुषोए

फरमावेला संदेशाओं पैकीनो चैल्यादिद्वयने आश्रयीने किंचित् संदेशो आ द्रव्यसप्तसिकिकाना गुणतद्वारा जे जे रिते पाठ्यो हें, ते विचार्युं पण स्थानीय दिग्दर्शनमोहनीयों बंध. वोधिलाभरुप वृक्षाना मूलमां जाज्वल्यमान अग्रिन्तुं लगाड्वं.

१. मेदद्वार. आ द्रव्यसप्तसिका मेदद्वार, वृद्धिद्वार, विनाशद्वार, गुणद्वार, दोपद्वार, प्रायश्चित्तद्वार, अने दृष्टांतद्वार, एम सातद्वारथी मंडित हें. २. मेदद्वार. आ द्वारमा चैल्यद्वय, गुरुद्वय, ज्ञानद्वय, साधारणद्वय, अने धर्मद्वयनी निश्चयास्पक विचारणा विचित्रादपूर्वक कल्यामां आवो हें. मूलभेद तरीके आ पांच द्वारमा चैल्यद्वय, गुरुद्वय, ज्ञानद्वय, साधारणद्वय, अने धर्मद्वयनी निश्चयास्पक विचारणा विचित्रादपूर्वक कल्यामां अधिकारी केटला गुणने धारण होय, तो करनार होवा जोइए ३ देवादिद्वयना विचित्र अधिकारी कोण होइ अके ? श्री जिनाज्ञा रहितपणे देवादिद्वयनी वृद्धिद्वकारक वस्तुस्थितिशी अज्ञ होय, तो तेथी श्रीती कलीष्ट विट्ठवा, देवादिद्वयनी चित्तना शी रीते राखवी ! विगेर पांचमी गाशाथी चारमी गाशा सुधीमां फरमावायुं हें. ३. विनाशद्वार. आ द्वारमां देवादिद्वयनी भक्षण करे, यातो उपेक्षा करी, बीजाने खावादे, अथवा मतिमंदपणाथी कोइने धोरवाथी श्रीतो दोपापति, मोहवृद्धिद्वा. ते द्रव्यनो उपद्वयनी श्रीती नरकना आयुर्वेधनी श्रीती कलीष्ट आपनि, भाङ्डु न आपे, प्रतिज्ञा करेलै. द्रव्य न आपे, इच्छादिशी दृष्टित थड अविवेचोग करे, यातो चोरी ले, तो तेशी नरकना आयुर्वेधनी श्रीती कलीष्ट आपनि, भाङ्डु न आपे, प्रतिज्ञा करेलै. द्रव्य न आपे, इच्छादिशी दृष्टित थड अविवेचकिना वचने ते द्रव्यनी उपेक्षा करे, तो तेने श्रीती संसारनी वृद्धि साधु पण भक्षणाहि दोपोने न निवारता उपेक्षा करे, तो तेमनी पण श्रीती अनंत संसारमां परिश्रमणा. अने अनुपेक्षितने श्रीती महानिर्जरा. ते अंगे शुव्यवृद्धि विचारणा. विगेर. १३ मी गाशाशी २० मी गाशा सुधीमां प्रकाशवामा आवेलै छे. ४. गुणद्वार. आ द्वारमां देवादिद्वयनी वृद्धि करनार महासत्वोने आ लोकमां सपृद्धि, कीर्ति, उख, बलवृद्धिनी प्राप्ति तथा भक्तिवान्, शरुवीर, सर्वलक्षणमां परिश्रमणा. अने अनुपेक्षितने श्रीती महानिर्जरा. ते अंगे शुव्यवृद्धि विचारणा. विगेर. १३ मी गाशा सुधीमां प्रकाशवामा आवेलै छे. ५. दोपद्वार. आ द्वारमां देवादिद्वयनी उत्कृष्टपणे तिर्थकरत्वप्राप्ति. मध्यमपणे सुसारनो अंत. जघन्यपणे परिचणोपेत, सदवृद्धिवारिधि, सुशीलि, सर्वजन संमत एवा पुत्रनी प्राप्ति. अने परभवामां उत्कृष्टपणे तिर्थकरत्वप्राप्ति. अने जगत्तं महद् उपकारीपण्युं विगेर. २१. मी गाशाशी २४. मी गाशा सुधीमां निहेळ्युं हें. ६. दोपद्वार. आ द्वारमां देवादिद्वयना नाशक-संसारी, अने जगत्तं भूत उपकारीपण्युं विगेर. २१. मी गाशाशी २४. मी गाशा सुधीमां निहेळ्युं हें. ७. दोपद्वार. आ द्वारमां देवादिद्वय विनाशथी श्रीजिनेश्वरादिनी आशातना श्रवाशी थती तनि दर्शनमोहनीयों बंध. वोधिलाभरुप वृक्षाना मूलमां जाज्वल्यमान अग्रिन्तुं लगाड्वं.

अनंत संसारमी प्राप्ति. परमवर्मा दासिदिव्य, कोडादिरेगोपति, जनतिरस्कार, पराभव, धार, भारकपैण, कुण्डलादि, अचुम पक्ष्यन्तु पासमुं. ते दृश्यन्ती चरी
किंते द्वारा साधुने आहारादि वहोरावे तो, ते साधुने अकल्य, तेथी थती महा गर्ही, प्रत्यनिकतानी प्राप्ति, आज्ञा विराखकता, संयम अने तपनो विच्छेद,
कुप्रवृत्ति प्रसंग दोम, चैत्यादि, दृव्यभक्षण कर्त्तार्थी संयम—आस—प्रवचन—विराघना शाय माटे तेना संगन्तु वज्र्येपण. कोनो कोनो संग त्याज्य, विग्रे २५,
मी गाथायी ४४ मी गाथा सुधीमां वर्णन्तु छे. ६. प्रायश्चिन्तद्वार. आ द्वारमां जे जे अतिचारो लागेला होय तेने सद्गुरुहर्व समीपे प्रथम आलोची
पछी पादिकादि, प्रतिकमण करतु. आलोचना यथार्थ भावप्रकाशी करवी. आलोचना लेनार संवेगी, विवेकी, श्राद्ध सामाजारीमां स्थित अनाप्रही, श्रद्धालु,
आसाधीन, आसेवनादि लक्षणेयुक्त, आसंसारहित विग्रे गुणोवाळो भव्य होवो जोइए. ते आलोचनादाता आचारशील, दोषने धारी राखे तेवा, शास्त्रव्यव-
हारनिषुण, आलोचना कारकनी शरमने सदुपदेशाशी छोडावनार, योग्यतानुसार प्रायश्चित्त आपी धर्म—जग्यति करावनार. देशकालादि जोनार सद्गुरु होवा
जोइए. ते साधु या श्रावकके आचार्य, सांभोगिक, असांभोगिक, गीतार्थ, पासतथा, अगीतार्थ जेवा, पश्चातकृत, देवता, अरिहंत प्रतिमा पासे, अश्रवा अर्हत
सिद्धनी सामे क्रमे क्रमे अभाव छते आलोयण लेवी. वे प्रकार. उकंठितपणाशी, अभिमानशी, प्रमादशी, यतनाशी, संघादिक कार्येशी, संभ्रमथी जे दोष
लागेल होय तेनी यथास्थित आलोयण लेवी. आलोचना प्रहणशी शुभमावनी दृष्टि अने सन्मार्गदर्शक सहायनी प्राप्ति, आलोचना शुभ स्थळादिप लेवी.
आलोचना दाता छतां स्तत: आलोचना लेतो शुद्ध थतो नथी, अने वधु दोषित बने छे. पाप प्रकाशनशी लघुता, हृषेतपति, स्वपरदोषनिष्ठति, सरलता,
शुद्धता, श्रोजिनाशपालन, शहप्रभावादि आलोचना करवाशी गुणो ग्रास थाय छे, ते लघुगुरु प्रायश्चित्तादि, ४५ मी गाथायी ५९ गाथा सुधीमां निवेद्य
छे. ७. द्वार. आ द्वारमां दृव्यादि द्वारोने विशेषणे पुष्ट करवाने माटे कथाओ कहेली छे. २ बृहदिद्वारमां प्रसंग पामी संकाशनी कथा, वे श्रेष्ठिना
पुजोनी कथा, महेन्द्रपुरीना एक श्रावकनी कथा, कृष्णदत्तकथा, देवसेनमातानी कथा, महृश्रेष्ठीनी कथा, आमडेहेठनी कथानुं आलेलवन करी वस्तुना भावों

उद्बोधन वधु स्पष्ट कर्तुं छे ३ विनाशद्वारमां श्रीकालिकसूश्रवर्णी महाराज, श्रीभद्रवाहृत्यामिजी, श्रीव्रत्यामिजी, कलिकालसर्वजपरिषिद्धिं ह श्रीहेमचंद्र-
सूरीश्वरजी महाराज, श्रीमहावादीमुरोजीम ०, श्रीविष्णुकुमार, श्रीधर्मघोषमुनीजी, सर्वजिभुति सुनिवरनी कार्यवाहिद्वारा विनाशनो अभाव पुण्ट करवामां आवेल
छे. ४ गुणद्वारमां सागरश्रीघीनी कथाद्वारा चैत्यादिद्वय वृद्धिकारकने श्रीजिननामकमनो गुण दशांन्यो छे. ५ दोपद्वारमा लडदतनी कथा, चंद्रकुमार प्रबं-
धद्वारा दोषशी थयेल आपति, अने दोष निवारणशी थयेली अपूर्व सुखनी सामग्री विग्रेर सुंदर प्रकार वणीबेल छे. ६ ग्रायांश्चतद्वारमां सिद्धपुरना श्रावकनी
संकाश नामना श्रावकनी कथा, कर्मसार अने पुण्यसारांनु निदर्शन, महाकाळ्ना दण्डांतद्वारा प्रायश्चित्त न लेनारानी आवत्ति, अने आलोचना लेनारानी
प्रगतिशी आ विषयनु हार्द पण सारु खोल्यु छे. तत्त्वरूचिए सम्यक् श्रद्धानपूर्वक आ इटांतो अवश्य—एकात लक्षपूर्वक मनन करावा योग्य छे.

उपर्युक्त रीते चैत्यादि द्वय अंगोना किञ्चित् संदेशानुं केवल संक्षिप्त दिग्दर्शन अहि कर्यु छे. चिरत्त तत्त्वपिपासु अने भवभीरु श्री‘दत्तसितरी’
(दव्यसप्ततिका) उं आधंत वांचन रु-पर हितार्थं करवुं परमावश्यक छे. पाठक प्रनर यं शकर्ता धगा भवभीरु छे तेबोश्रीए आ गंथनी रचना कर्या
वाद तकादि शालेना परम निपुण अने वैराग्यरूप अमृतना समुद्र पंडित सुनिप्रवर श्रीविद्याविजयजी महाराज पांस गंथमां किंचित् दोप पण न
रहेवा पासे ते माटे सम्यक् संशोधन कराल्यु छे. आ गंथनी रचना विक्रम संवत् २७४४ना आसो मासना शुक्रपक्षमां करी छे. भव्य सल्लो शुक्रपक्षना
सितांसु तुल्य दव्यसप्ततिकाने धारण करो अज्ञान तमोपहारथी शती परमोज्जलताने पामी, धर्म कर्म सिह बनी निखिल शांतिना धाम स्वरूप निवृत्तिस्थानने
सत्त्वर पामो एम इच्छो विसुं छुं.

सीपोर

वि० स० १९९५

भाद्रवहृद्दीतीवा

श्रमण कवि

लि०

—: श्री चिन्तय—भरि — नदर—चरणग्रन्थम्

ग्रन्थाङ्कः नाम

- १ श्री प्रत्येकवृद्ध चरित्रम् पद्य ०—१०—०
- २ श्री चार्चीशपरीपह कथा „ १—०—०
- ३ श्री मूलदेवनुप चरित्रम् „ (प्रसमां)
- ४ श्री अगडदस चरित्रम् „ „
- ५ श्री शान्तिनाथ चरित्रम् „ „
- ६ श्री विष्णुकुमार „ „
- ७ श्री उदयनराजर्णि „ „
- ८ श्री दशार्णभद्रनुप „ „
- ९ श्री चित्रसम्भूतिचरित्रम् „ (प्रसमां)
- १० श्री सनकुमार चरित्रम् „
- ११ श्री दन्यसप्तिका भ न्तर मेट
मासिक्षान—पं० हीरा ल ह राज—जामनगर.

तरफथी तैयार थता ग्रन्थो :—

१२ श्रीउत्तराधश्यनसुन्नम् १३—०—०
(श्रीभावविजयोपाध्याय वृत्तिशुत्र) (प्रेसमा)

- १३ श्री हैमघातुपारायणम्
(कलिकाळ सर्वक श्री हैमचन्द्रसूरीश विचित्र) (प्रेसमां)
- १४ श्रीशाहुप्रतिक्षणसुन्नम् वृत्तित्रयोपेत्य
(श्री चन्द्रसूरि श्रीतिलालार्दः श्रीपांशुः दीकाकारा)
- १५ श्री उणादिनाममाला (कोशः)
(श्री शुभदीलगण विचित्र अनेक अप्रसिद्ध शब्दोना संग्रह युक्त)
- १६ श्री धर्मोपदेशमाला
(मल्ह० श्रीहैमचन्द्रसूरि शिख श्रीविजयसिंहसूरिकृतवृत्तिशुत्रा)
ग्रामिक्षान—पं० शुरालाल कालीदास सरस्वती जैन पु०
- १७ मंडार १४५ लालवाडी मुंबई
केशरबाई झानमंदीर—पाटणा (गुजरात)

प्रथमस्तरं
॥ १ ॥

द्रव्यसम-
कावृतिः
॥ १ ॥

॥ श्रीशन्नितनाथाय नमः ॥
सकलसुविहितशिरोमणि—प्रशान्तमूर्ति—नयोहुद्भु—गीताशर्थगणि—जैनाचार्य श्रीमद्विजयसिद्धिमूरीश्वर सद्गुरुभ्यो
महो ध्याय श्रीलालाचार्यविजयगणि विरचिता

श्रीद्वादश तिकटुन्तः

(स्वेषपञ्चा)

इह ग्रंथार्थमे गंथकृत् शिष्टसमयपरिपालनाय विद्वांपशांतये श्रोतुप्रवृत्तये च म लादिकं प्रति गतीते—
स्तिरिवीरति । वंदिय, धर्ममगुरुं तत्त्वोहगं धीरम् । देवाहृदृवतत्तं, सुआणु रे निरुवेमि ॥ १ ॥
(टीका) स्तिरिवीरति—श्रीवद्भुमानलिनं धर्माचार्य च वंदित्वा समयग् मनो कृकायैतत्त्वा प्रणिधाये र्थः । देवादिद्रव्यतत्त्वं
देवादिद्रव्यस्य रूपं निरुपयामि विविच्य वक्ष्ये इति कियाकारकसंठकः । केन श्रुता सारेण श्राद्धादिनकृत्यादिग्रंथानुसारेण । अत्र
तत्त्वात् तीयार्थं सप्तमी । कीदृशं चौरजिनं शुरुं च तत्त्वये । अ ग्रहधीप्रयु सदागमोपदेशतत्त्वा भवयानां यथावादि तत्त्वयो-

द्रव्यसम
काहृतिः
॥ २ ॥

धजनकं अनेनोभयत्र परंपरया साक्षाच् परोपकारत्वं दाशेत् । पुनः कीहूं धीरं मरणांतकष्टोपनिपातेष्यनुत्सुप्ररूपकस्वभावमनेनोभ-
यत्र सुगुरुत्वं सूचितं । यदुकं विद्वोषावद्य के ‘उम्मुत्ताभासगाणं, बोहिनासो अपांतंससारो’ ॥ पाणचाएवि धीरा, उत्सुर्त-
तो न भासंति ॥ ? ॥ तत्त्वतः स्वोपकारकत्वमपि भावितं । अत्र श्रीविरजिनं तत्त्वबोधकं चेति पदद्वयेन सद्भूतार्थप्रतिपादनपरेण
चत्वारो भगवदतिशयाः प्रकाशिताः । तत्र श्रीशब्देन ज्ञानातिशयः, वीरमित्यनेन पूजातिशयः, जिनह्यनेनापायापामातिशयः,
तत्त्वबोधकमिलनेन वचनातिशयः । तदेवं चतुरतिशयप्रतिपादनद्वारेणोभयोरेकत्वदर्शनेन च गुरुदेवयोः पारमार्थिकीफलोपहितप्रणि-
धानयोग्यतामिहितेति भावः तथा प्रयोजनादिनिरुपणं च लोकाद्भाव्यमिति ॥ ? ॥

अथ देवादिद्वयपदवाचाच्यमाह—
ओहार छ्रीए, देवाऽणं पक्षिपत्यं च जाया । जं धणाधद्रवपमुहं, तं तद्वठं इहं गोयं ॥ २ ॥

(टीका) ओहारणेति—अवधारणवृद्धया भत्तयादिविशिष्टनियमवृद्धया देवादिभ्यो यत् घनधान्यादिकं वस्तु यदा यत् कालाचर्चु-
देन प्रकलिपतं उचितत्वेन देवाद्यर्थं एवेदं अर्हदादिपरसाक्षिकं व्यापार्य न तु मदाद्यर्थं इति प्रकृष्टधीविपरीकृतं निष्ठाकृपमिति यावत्
तदा तद् इह अत्र प्रकरणे तद्वठयं तेषां देवानां द्रव्यं देवादिद्वयं द्वैय वैधिरिति शेषः । एवं सति कलिपतमाचमहदादिद्विष्ट-
माच्रपतितं च देवादिद्वयं न भवतीति तत्त्वं । तेन नैवेद्यपूजार्थं संकलिपतमपि खनिष्ठितमशनादिकं सपरिकरपृगमिधिद्विज-
श्रादेन साधुभ्यो विधिवद् दत्तं महाफलायाभृदन्यशोभयेषां स्फूर्तं दोपोपयन्ति: सात । यदुकं वस्तुदेवहिंडिका २ खंडे चाचा-
रवृत्तौ च ‘कौसलजणवृ ए संग्रहसंनिवेशे जिणभन्तो गामन्नज्ञायणमितमोई मिगो नाम चंभणो परिचसह । तस्स तारिसी महरति

प्रथमद्वारे
॥ २

पिया । शुया वारणिति । कयाइसिगेणाशुना भदे करे हि देवकए भरं । जउ चउहागमे पूया भणिया । तथाहि तिथयरो अरिहंतो
तस्स चेव भन्ति कायङ्वा साय पूआवंदणाइहि भवह । पूर्यंपि पुर्फामिसशुःपडिवतिभेआओ चउचिवं पि जहासन्तिए कुञ्जति” अत्र
यथासंभवमविकलासोपदेशपरिशालना प्रतिपन्ति: । तओ पुष्टफूपुआओ नेविज्ञप्तयाएव रेत्ति मर्वंतीए तीए देवकज्ज्वे साज्जियं भोयणं,
साहबो अउचागया पच्चालखं मुख्ख मग्गो इच तिणहवि जणाण समवाओ पडिलामेसुचि बहुमाण भावेहि तेहि साहबो पडिलाभिया ।
गिणहंति शुणी वि किंचि तेसिं शुहभाव बुहिथं । अत्र विशेषार्थो बृहत्कल्पभाहयतो भावयः । तो पूयादाणफले, गेवं तिणहंपि
तेसि संजायं, रायकुले भोगफलं, जस्स महो पूयमाहप्प १ । तथा । तचनियमेण य मुख्खो, दाणेण य हुंति उचमा भोगा । देवचणेण
रज्जं, इणमणमणेण इहतं २ । ततो भवांतरे च मृगाद्विजादयो मुक्ति प्रापुरिति । अत एव पूजातः प्राग् देवपूजासात्कस्त्रचंदनभाजनात्
पात्रांतरे हस्तले चा गृहीतचंदनेन कुतभूषणः श्राद्धो देवानर्चयेत् तथा स्वगृहदीपोऽपि देवदर्शनार्थमेव देवाये आनीतो देवसन्को न
साते, तथा देवाये ढोकितं नैवेच्यपात्रादिकमपि देवसत्कं न स्यात् तथोचितनव्याचपकान्कफलादेवस्य पुरो ठोकनं साधोनिं-
मंत्रां च विना स्वयमग्रहणमिति यावज्जीवनियमे मति तदकरणे नियमभंगः नियमाभावे तु तदनिवेदने भक्तिमंगाशातना स्यात् ।
न तु देवदृष्टे देवसत्कं तेन न देवदृष्ट्यभक्षणदोषप्रसंग इत्यादि विधिनिषेधवादोऽपि वहते इति २.

अथ सप्तद्वारेदेवादिदृष्ट्यप्रस्तुपाणां दर्शयति—
भेया बुझी णासो, शुण दोसा पायच्छ्वत्त दिठ्ठता । एषप्तहि दुवारेहि, एअस्स पर्हवणा गेया ॥ ३ ॥

प्रथमद्वारं
॥ ४ ॥

(टीका) मेराति तत्र शैक्षणिकशब्दप्रयोजका द्रव्यप्रकारा मेदा: १ समग्रचिंतापूर्वा स्वधनादिप्रक्षेपचिह्ना तदुपचित्विद्धि: २ लोभाद्युदयोदीरितभक्षणोपेक्षणादिना तद्वानिविजाशः ३ तयोः करणं वारणादिना पुण्यादुर्बंधिषुण्यादेलीभो गुणः ४ तद्विजाशोद्देलित-पापात्माभो दोः ५ तद्विशोधकोडुष्टानविशेषः प्रायश्चित्त ६ कमात् गुणदोपयोः प्रवृत्तिनिर्विचिदाङ्गार्थं निरूपितसुदाहरणं दृष्टांतः ७ एतेद्विद्विद्वैद्वारेतस्य देवादिद्रव्यस्य प्रलृपणा हेया, सम्यग्ज्ञानविपर्यी कार्या ॥ यतः सम्यग्ज्ञानत एव सम्यकप्रलृपणप्रतिपत्तिश्च भवतीति भावः ॥ ३ ॥

अथोद्देशात्तुक्षेणादिशब्दनियामितं मूलोत्तरान्वितं भेदद्वारमाह—

• गोचं चंचविहं, चैद्यदन्वं च गुहाअदन्वं च । नाणं साधारणगं, धर्मं पत्तेय तं तिविहं ॥ ४ ॥

(टीका) तेणोयमिति । तद् देवादिदन्वं त्रैयं पंचविधं निश्चावियमेदात् पंचप्रकार तथथा । चैत्यदन्वं १ गुरुदन्वं २ ज्ञानदन्वं ३ साधारणदन्वं ४ धर्मदन्वं ५ च । तथा तत् मूलमेदमित्वं देवादिदन्वं च प्रत्येकं विविधं जायन्यादिमेदेन विपकारं भवति । अयं भावः । चैत्यस्याहृद्विवस्य निश्चितं द्रव्यं देवद्रव्यमित्यर्थः । अत्र “चैत्य जिनोकस्तद्वै चैत्यो जिनसभातरुरिति” हेमवचनात् । सपरिकरप्रसादो चास्तुरूपत्वेन देवद्रव्यांतर्भूताचाप्त वृथक् नोक्त इति । तच यथाहृमूल्याद्यपेक्षयाविधा । जघन्यं १ मठयमं २ उत्कृष्टच ३ । तत्र नैवेद्यपृष्ठवांशोपकरणादि जघन्यं द्रव्य १ वस्त्रधातुकाटभाजनोपकरणचतुःपदादि मध्यं द्रव्यं २ कनकरूपयमीक्रिकवास्तुच ४ । श्रेत्रादि उत्कृष्टं द्रव्यं ३ । १ एवं यथासंभवं गुरुदन्वं भावं २ भीमेतिभीमसेनन्यायात् । ज्ञानं ज्ञानदन्वं ३ पुस्तकद्रव्यमित्यर्थः ३ तथा साधारणदन्वं चैत्यपूस्तकापदगतश्राद्धादिसपुद्दरणयोग्यकुद्धिमन्त्यावकमीलितं भांडापारस्पं क्षेत्रद्रव्यमित्यर्थः । तदपि पूर्वविधाभावं

द्वितीयं
बुद्धिदारं
॥ ६ ॥

४ धर्मदन्वयं प्रायः साधारणाधिया चैत्यादि १२ भर्मस्थाते । यथाशक्तिन्ययनिमित्तं परिज्ञातं द्रव्यं । तदपि त्रिधा एव पंचदशमेदाः
स्मृतिवर्थः । अत्रैकत्वे सति अनेकसंबंधित्वं साधारणत्वं तत्त्वं नियतकर्तृविषयप्रेक्षया उत्तरं त्वनियतोभयप्रेक्षया च मेद्यं ।
अथवा निश्चाकाले कार्यकाले चा प्रवर्तकधीमेदात् विषयमेदादा सर्वत्रापि मेदः स्थधिया स्फुटं बोध्यः । तथात्र जघन्यादिन्यविस्तारो
वृद्धिनाशप्रायश्चित्तविवरणावसरे वक्ष्यते ॥ ४ ॥

॥ इति समातं प्रथमं भेदद्वारं ॥

अथैषां वृद्धौ चक्ष्यमाणं सत्कलसुदेतीति वृद्धिद्वारनिरूपणार्थं चैलककारणाधिकारिगुणोपलक्षणेन पंचाशाकगा-
थामयासादौ सामान्यतस्तदधिकारिणं निरूपयति.
अहिंगारी य गिहश्चो, सुहसयणो वित्तमं जुओ कुलजो । अरकुद्दो विद्युवलिओ, महिमं तह धर्ममरागी या आ
गुरुपूजाकरणरई, सुसमूसाहगुणसंगाओ चेव । णायाहिगयविहा, णस्स धरणियमाणप्रहाणो य ॥ ६ ॥
(टीका) अहिंगारिति । गुरुपूजाति । अत्रोत्सर्गत ईदगुणो गृहस्थः ग्रायोऽधिकारी देवादिदृच्यबुद्धिकर्ता जिनैरुक्तः । तद्यथा ।
कीदृग् गृहस्थः, सुखस्तजनः अतुकुलकुटुंडवादिधर्गसाहितः २ वित्तवाचु न्यायाज्ञितकृद्धिमात् २ युक्तः राजसत्कारादियोग्यः प्रत्यनी-

^१ सुखयतया सुप्रसिद्धानि क्षेत्राणि सप्त तस्मिन् भक्तपरिज्ञातुसारेण निश्चाकाले कार्यकाले प्रयोक्तुरवधुम बुद्धिरूपो हो च मेद्यो स्वर्वदादश ॥

द्रव्यसम
काहिति:
॥ ६ ॥

कादिनाऽपरिभूत इति यावत् ३ कुलजः सद्वंशः सद्वंशः कृतशिक्षनिर्वहकः ४ अङ्गदो दानशौडः ५ धृतिशलिकः चित्तसमाधानलक्षणसा-
मध्यपुक् ६ तथा ज्ञाता विद्वान् प्रस्तुतविधानस्य चैत्यद्वयादिव्यादिव्येतिर्थः ७ आज्ञाप्रथानः आगमपरंत्रः ८ घर्मसिक्तः ९
गुरुभक्तिः पूजनीयमेवापरायण इत्यर्थः १० श्रूपादिगृणैः संगतः विवेकीत्यर्थः ११ मतिमान् स्वतः प्रशस्तर्थीमान् १२ अयंः
भावः ईहशः श्रद्धावतः सातुरांध्यमस्तकलाः चैत्यद्वयादिव्यादिव्यवहाराः सुसाध्याः स्युः तत्प्रतिकूलाभ्यक्षणादिदोषा अपि निवायाः स्युः ।
विसद्वशस्तु ते दुःसाध्या एव ततो यस्य यथा सामर्थ्यं स तत्र तथा प्रवर्तते इति ५ ॥ ६ ॥

॥ अथात्रैव विशेषतस्तदीयिकारणो निरूपयति ॥

मण्गाणुसारिपायं, सम्महिडीतहेव अणुविरई । एष हिगारिणो इह, विसेसओ धर्मसत्थंसि ॥ ७ ॥

(टीका) मण्गाणुति । भवाभिनदिदोषरहितो मिक्रादिव्यादिष्टसहितः गमसंवेगाणुपलक्षितः तथाविधमंदमिल्यात्वकपाशोदयभाग् भज-
नया च जैनक्रियावान् तथा भवयो मार्गानुसारी स्थाव । यहुकं धर्मपरीक्षादौ । “ मण्गाणुसारिभानो, आणाए लखेण मुण्यच्छवं ।
किरिया तस्म न णियया, पदिव्येष्व वाविउवयारे ८ तत् तत् तस्चातुकूलप्रवृत्तिहेतुपरिणामो मार्गानुसारिभावः । सेव
द्रव्याशास्त्राणुच्यते । तत्र मापदुपतामलयादिवत् अन्वयव्यतिरेकाणां दर्शनकिया न नियता । एतेन मार्गानुसारिणों इन्वयो जैनक्रिया-
नियमो निरस्तु इति १ एषा मार्गानुसारिता चोत्कर्पतः चरमावत्तेऽपि प्रवर्तते । यदुकं तत्रैव “मण्गाणुसारिभावो पुण्यालपरि अ-

१ अत कांशं कारणयोः ग्रन्थ दर्शयितुं पश्चानुबुद्धा कातिचिद्गुणादासाताटीकाहृतिः ॥

द्वितीयं
द्वादशं
॥ ६ ॥

द्वितीय
वृद्धिकार
॥ ७ ॥

इति सप्त-
तिकाष्ठतिः
८ ए सुणेयऽब्रोऽ गुणुद्धीए विगमे भवाभिनंदीण दोसाणं” १ अत्र चरमपुद्गलावर्त्त प्राकालवर्त्तिनोऽनंतानुर्बन्धिकपायादिविपाकरूपाः
शुद्धत्वादयो दोषा भवाभिनंदिन उच्यते श्रिति १ तथा मिथ्यात्वो दयरहित्वे सति केवलनिः ऊकितादिगुणमहितो भवन्त्यो
देशाविरतिः चिरतसमयद्विः २ भवोद्देहगादिगुणवन्वे सति अप्त्याख्यानावरणास्योपशामजन्यविरतिः भवन्त्यो देशाविरतिः
३ एते इह तद्वद्वद्यथिकारे विशिष्टाधिकारिणो धर्मशास्त्रेण पचाशाकाद्यनुस्तारेण ग्रामो ज्ञेया इति शेषः । पुष्टालंबने तु साधवोऽय-

त्रिधिकारिणोऽग्रे वद्यते ॥ ८ ॥

जिणवराणारहियं, वद्धरांतावि केवि जिणदध्नम् ॥ बुद्धुति भवसमुद्दे, मूढा मोहण अद्वाणी ॥ ९ ॥

अथ क्रमात्सप्रतिपक्षविध्यपेक्षककर्तुद्वारेण कलोपहितां वृद्धिं दर्शयत् प्रसंगतो विनाशामपि दर्शयति ।

जिणवराणारहियं, वद्धरांतावि केवि जिणदध्नम् ॥ बुद्धुति भवसमुद्दे, मूढा मोहण अद्वाणी ॥ १० ॥

(टीका) जिणेन्ति । अत्र तंत्र न्यायेन न्यायानं द्विद्या कार्यं । तत्र विधिपक्षे सर्वत्र प्रायोऽकारविश्लेषाद् जिणवियाऽपहितं सहितं
देवादिद्वय वर्द्धयन्तः केचिदनिर्वचनीयगुणः अमूढः विवेकिनः अमोहेन मेदद्वालेन आज्ञान्यः अहदाद्याज्ञामात्मनि नयतीति अहदादि-
आज्ञाराघकाः भवसमुद्दे अ-न निमज्जति तरंतीत्यर्थः । विधिपक्षे तु यथाश्रुतं च्याखयेयं । अत्रेदं हादं श्रीआज्ञाज्ञातुमारिण्युचित-

तार्थकिया विधिः स्वच्छंदानुसारिणि चाचिधिरतः कर्मादानादिकुठयापाचर्जसदृयवहाशादिविधिनेव तद्वद्विः कार्या १ ।
केचितु श्राद्धव्यापत्तिरिक्तम्यः समाधिकश्चहणकं गृहीत्वा कलांतरेणापि तद्वद्विद्विनैवेत्याहिरिति । समयत्ववृत्तपादौ संकाशकथायां
तथोक्ते । एवं सति परः प्राह । ननु देवदन्यव्याधिकारे कथं श्राद्धेन देवदन्यव्याधिं कर्तु शक्यते । यतो “ भाववंतो जिणदध्नं,

अनंतसंसारिओ भणिओ ” इति जानक्ति आत्मव्यतिरिक्तानां यच्छलुभयेषां संसारवृद्धिं प्रतिकारणता भवति । न हि विष-

कस्यापि विकारकुञ्च स्यात् वाच्यं । प्रायः सर्वेषामपायकुदेव स्यात् अंथांतरे आलोचनाधिकारे मूपकादीनामपि दोषोत्पत्तिरुक्तास्ति । तदन्न वृद्धिं प्रति का रीतिरत्नोच्यते । मुख्यवृत्त्या श्राद्धानां देवदृव्यविनाशानमेव दोषः । कालोचितव्याजादिदानपूर्वकग्रहण तु न भूयान् दोषः । समधिकव्याजादीदाने पुनर्दोषाभावोऽवसीयते । तदिनाचो तु दुर्लभवोच्यता । तदएशादिदेशानादनोपेक्षणादौ साधोरपि भवदुःखं च शाखं दर्शितमस्ति । तेन तदभिज्ञाना श्राद्धाना प्रायस्त्याव्यापाणमेव श्रेयः । मा कदाचित् ग्रामदेन सर्वोऽयुपभोगो भवतु इति सुखानश्चापानया प्रत्यह सारादिकरणपुरस्सरं महानिधानवत् तत्परिपालने च तेषां न कोपि दोषः किंतु तीर्थकुञ्चामकर्मनिधनादिविशिष्टलाभं पूर्वं ६ । एवं सति तेषा यत्तद्वर्जनं तञ्चशुक्रतादिदोपसम्भवपरिहारार्थं व्येयं तेनतरस्य तद्वेगविपाकानभिज्ञास निःशक्तताद्यामेवत् वृद्धयर्थं समधिकग्रहणपूर्वकसमर्पणे न दोषः । आगामिनिर्वनत्वापादादिसंभवेऽपि मूलधनस्य विनाशाभावात् । सशुकादो तु वृद्धयाद्यर्थं समर्पणवहाराभावात् तेषां तद्वक्षणे दोष एवेति ८ । तथा कदाचित् उक्तप्रकारेण यदा सुश्राद्धा आपि सयं तदाक्षतपूरीफलनेवेद्यादि देवदृव्यविकर्योत्प्रदृव्यवत् तदृश्यनेनवेच्यतपृथग्नयापारकरणेन लब्धं धनं साधार्मिकाणामुक्त्वा देवदृव्यादौ प्रक्षेप्य न तु स्वधनादौ । तदानिरपि तेषामग्रे वाच्या तत्प्रतीकारार्थमिति २ । तथा यदोक्तप्रकारेणतरश्चृहेऽपि ग्रहणकग्रहणपूर्वेकतद्वृद्धिसंभवो न स्थात् तदीचितव्याजादानपूर्वकमेव तदद्युद्देतद्दूर्तं यथाकालावधिसंभूय सुश्रावकेमोच्य । ततो अप्रमतास्ते तदृशनं तथा अकारेण शृहांतरं पराचत्तेयंतः सारादिकं कृत्वातः प्रवर्त्तयेयुः ५ । अत्रोत्समर्पिवादेन भावना कायाः । एवमादिवृद्धिप्रकाराभावात् सर्वेषां विनाशसंभवे तु महानिधानवत् रक्षणीयमेव । न हु वृद्धयर्थं कनिचिदपि मोच्यमिति । श्राद्धविधि समयकत्ववृद्धिं प्रश्नोत्तरसंग्रह वृद्धवादातुसारेण विष्वपूर्वकेव वृद्धिस्तथाभव्यानां संपूर्णफला यशस्करी भवति ।

दितीं
बुद्धिमर्त
॥९॥

तिकाष्ठानिः

अविधिना च विहिता कालांतरे समूलं चैत्यादिद्वयं विनाशयति । यतः “ अन्यायोपार्जितं द्रव्यं, दश वर्षणि तिष्ठति । प्रसे च-
पोडशे वर्षे, समूलं च विनश्यति । ” यतो लोकेऽपि बृद्धिगणिड्यसेवाभोजनशयनासनविद्या धनगमनं चंदनादिकं च द्रव्यक्षेत्रका-
लादिविधिना विहित पूर्णफलवचान्यथा सामग्रीचैकल्यात् । यदुक्त पदेशपदादौ आसन्नसिद्धिआणं, विहिपरिणामो उ होइ सय-
कालं । विहिचाओ अविहिभती, अ जियदूरभवाणं ॥१॥ धनाणं विहिजोगो, विहिपह राहगा सया धना । विहेन माणी धना,
विहिपहवअदूसगा धना ॥२॥ विहिसारं चिअ सेवह, स लूसतिमं अ णं । दव्वाइदोसनिहओवि, पखवधायं वहह तंमि ॥३॥”
लोकेऽपि श्रयते “विधिपूर्वं कृतं कार्यं, संपूर्णफलसिद्धये । विपरीतं च तुच्छं तु, श्रेष्ठिनदनयोरिच ॥४॥” तद्यथा । कांचनपुरे
द्वौ श्रेष्ठिसुती दव्यार्थिनी एकं सिद्धपूर्वं भक्त्या भजतः । एकदा श्रेष्ठन तेन सम्यग्निविधिसहितानि तुंचीफलानि सप्रभावाण्यपैतानि ।
तथाहि शतवारकुटे क्षेत्रं निरातपथ्यले उ नक्षत्रवारयोगे वाय्यानि वल्लीनिष्पत्ती च कियं बी नि संगृहा सपत्रपुष्पवल्ली क्षेत्रस्थैव
दद्याते । तद्भु एकगद्याणकप्रभित चतुःषष्ठि गद्याणकतामझेश्यते जात्यं हेम दिति सिद्धेन शिक्षितौ ती गृहमाययतुः ।
ततस्तयोर्मध्ये एकेन यथोक्तविधी कृते जात्यं हेम जहौ । अन्येन विधिरीपन्नग्नुतीचके तस्य रुण्यमेवातः सर्वत्र सम्यग्निविधिरेवोनितिः ।
अविधिस्तु निःशक्तया विहितोऽनश्यायेव । यतः “जह भोयणमविहिकयं विणासप् विहिकयं जियावेह । तह अविहिकओ
धम्मो, देह भवं विहिकओ मुख्यं ॥५॥ हरिजण्य परदव्यं, पूय जो कुण्ड जिणवरिदाणं । दहिलण चंदनतरुं कुणइ इगालचापिजं
॥६॥” न चैवं संप्रति धम्मो नैवकत्तेन्यतयापत्त इति वाच्य अपरिहायायिवेः सुप्रतिकार्यत्वात् । यतः अविहिकयाचरमक्यं, उस्तु-

दृश्य
तिकावचिः

शाननानिमित्तं मिथ्यादुङ्कुनं दातन्प्रमेवेति । किंच सातिचारादप्यकुछानादभ्यासतः कालेन निरतिचारस्तुष्टानं
भवतीति स्तुरयः यदाह । अभ्यासो हि प्रायः, प्रभूतजन्माभुगो भवति । शुद्ध इति संस्कारद्वारेत्यर्थः । वाह्योपि अभ्यासो हि कर्मणां
कौशलमावहति नहि सकृचिपातमावेणोदानेदुरपि ग्रावणि निक्षतामादधातीति तत्त्वम् ॥ ८ ॥

अथ विधिवत् आददिनकुत्यादतु रेण चिंतामपि निरपञ्चस्तौ दर्शयति—

मू०—समये सहो चिंताहृ, चेह्यमाईव दुहि यं अ । उगगाहिणी उ सयं, दन्तु बुद्धी न अन्नहा ॥९॥

(टीका) समयेति—समये एकाध्यतर दिवसादिप्रस्तावे कदाचिदि श्रूः । तथाविधश्चाऽः चिंतयेत् रणादिविधिना पर्यालोचना-
पूर्वं सारयेत् । चैत्यादीन् आदिशब्दात् चैत्यप्रदेशप्रमाणनादिग्रहणं अथवा अन्यं चै दिपरिचारकदेवाचक्षप्राहारि दिकं दुःपि तं
खस्वन्यापारासमथमलपाजीविकया वा दुःखिं संते चिंतयेत् । देवादिद्रव्योदग्राहणीं हु सततं चिंतयेत् यतो देवादिद्रव्य तिशयेन
बृद्धिः स्यात् । विषक्षे दोषमाह ॥ अन्यथोक्ताचित्ताभावे हु उ वृद्धिर्वेत् । इयमत्र भावना । देवगुणोन्यवहारतोऽहतशा
पूर्वं यथाचसरं विवेकिना परिकरचैत्याचित्ता या । तत्रापि गीर्णचैत्योद्भारविषया विचित्रा लदा । यद् । अप्या
उद्धरिओ चिअ, उद्धरिओ तहय तेहि नियंत्रसो ॥ अन्ये य भ , अणुमोऽं औ जिणभ ॥११॥ “ विं नीयगोअं,
गोअं च चंधिअं तेहि । कुण्ठितपहो डविओ, गङ्गपहो अजिओ तहय” ॥१२॥ “ इहलोगंमि सुकीचि, उपुरिसमगो अ देसिओ होइ ।

१ चैत्यसेवाप्रमाणनादिक्रियाविधायकम् ।

अन्नोर्सं भवत्ताणं, जिणभवत्ताणं उद्दरंतेण ॥ ३ ॥ “सिंजन्ति केह पुरिसा, भवेण सिद्धत्ताणं च पावति । इदसमा केह पुणो, सुरसुरवं अणुहवेलणं” ॥ ४ ॥ अतः सुधादिना चैत्रं संस्कार्यमिति । अतैत्यप्रदेशसंमाजेनपूजोपकरणसमारचनप्रतिमापरिकरादिनेमलयपादनविशिष्टपूजाप्रदोषादिशोभानिभावनाक्षत्रत्वेच्यादिवस्तुत्सोमसत्त्यापनचंदनकेरथूपघृतादिसंचयनदेवादिद्वयोद्ग्राहणिकाकरणत्वप्रसादेवपि शक्तुस्थानस्थापनतदायव्ययादिसुव्यक्तत्वेलग्नकविवेचनसमुद्गकायव्ययस्थानादिसरक्षणकमकरस्थापनसाधार्थमिकगुरुहृत्वानधमशालादेवपि यथोचिताचित्तया यथाशक्तियतनीय । एवं क्रद्धिमत् श्राद्धेन तु विमलाचलादिमहातीर्थस्थापि रक्षोद्गारकरमोचनादिविधिना सारणा कार्या । एताचता प्रसंगतश्चेत्यादिवैयावृत्यविधिरपि तिणीत इत्यपि सिद्धं । न हि देवगुरुदीना श्रावकं विना प्रायोऽन्यः कथित्वित्वा कार्यकर्त्तास्ति । तथा सति जातु चौराज्ञयाद्युपद्रवाद् देवादिवन्यं विनश्यति तदापि चित्राकर्त्ता निर्दोष एवाचक्षुंभाविभावस्याप्रतिकार्यकर्त्तास्ति । तत्रापि या या चैत्यचिता स्वलपममयसाइया सा द्वितीयैतेषिधिक्याचीर्णविधेया शेषा तु पश्चादपि यथावदन्याक्षिप्तकाले । त्वादिति । तत्रापि या या चैत्यचिता त्वादिति यदाह “तं नाणं तं च विनाणं, तं कलासु अ कोसलं । सा बुद्धि पोरिसं तं च, देवकज्जेण जं वपति ॥ १ ॥” एतदेव गाहस्थ्यसारं यदाह “तं नाणं तं च विनाणं, तं कलासु अ भवतीति । तचित्राकारकैरुद्ग्राहणिकासु अभवतीति । तथैताकारकैरुद्ग्राहणिकाभवतीति । तथैतेषु उद्ग्राहणिकाचित्वे विशेषतो देवादिवन्यवृद्धिप्रयोजिका भवतीति । तथा च महान् विनादेवद्रव्यादाचार्यि कार्या । अन्यथा बहुविलंबे दुर्भिश्वदेशमंगदोस्त्वयापातादेवपि संभवात् वहूपकमेऽपि तदसिद्धेः । तथा च महान् विनादेवद्रव्यादाचार्यि कार्या । अहैत्यचंदनभोगपुष्पाक्षतावर्थं देवद्रव्योद्ग्राहणिकार्यां श्रीसंघेन नियोगदोष आपद्यते महेन्द्रपुरीयश्राद्धवत् । तथाहि । माहेन्द्रपुरे अहैत्यचंदनभोगपुष्पाक्षतावर्थं देवद्रव्योद्ग्राहणिकार्यां कुर्वन्ति । अन्यदा मुख्यचंदनश्रवणादौ यतद्वचनश्रवणादिना दूनशंजिताः चत्वारः चित्राकर्त्ताः श्राद्धाः सम्यक्कर्त्तां कुर्वन्ति । ताचराक्षसात् देवाभ्यगादिना बहुदेवद्रव्यं तायां शिथिलीभृतः । ततो सुख्यात्तुयाचिनो नयवहारा दत्यन्तेऽपि चिथोलीभृताः । ताचराक्षसात् देवाभ्यगादिना बहुदेवद्रव्यं

विनष्टं । ततः प्रमादेन सद्बलवीर्योपनात् साकुर्वधपापकमणा वसंख्यभवात् आंत इत्येवं निर्विलंबसमुद्ग्राहणिकस्यापि देवादिलभ्यं श्रावकादिभ्यः सोहसाहं श्रावकैग्राह्यं । ख्यं चापि विलंबं देवादिदेव्यं देव्यस्य प्रदाने विवेकिभिः सर्वथा न विलंब्यते किं पुनर्देवज्ञा देरेवं सति यदा च येन यावता मालापरिधापनादि कृतं तदा तावताऽन्यदपि देवादिदृश्यं जातं तच तेन कथमुपभुज्यते कथं वा तल्लापादि गृह्णते पूर्वोक्तदेवादिदृश्योपमोगप्रसंगात् तस्मात्सद्य एव तदर्पणीयं । यस्तु सद्योऽप्यितु मशक्तस्तेनादावेव पक्षार्थपक्षाद्यवाधिः स्फुटं कार्यः । अवधिमध्ये च यमध्यं मार्गणादि विनापि अवध्यु घने च देवादत्तरा पापोदयात् देवादिदृश्योपमोगदोषः स्फुटं हुषभद वृष्ट तथाहि । “महापुरे महेऽभ्यः श्रेष्ठी क्रमभदतः परमाहतः पर्वणि चैत्ये गतः पार्श्वं द्रव्याभावात् उद्भारके परिधापनिकारणं प्रतिपेदे सञ्च तेनान्यकार्यव्ययेण सा नार्पिता । अन्यदा दुर्देवात् तदग्रहे घाटी प्रविष्टा सर्वमध्यं लुटितं श्रेष्ठी च लंटाकैहेतो पृथ्वा त्रैव पुरे निर्दयदरिद्रकपणमहिषवाहकगृहे मरीहिषोऽभूत् । तत्रापि च तदा नीरादिभारं प्रतिगृहं वहन्तुच्चस्तरभूत्वानाहोरात्रभारवहनशुद्धुत्सदानिर्दयनाडीयातादिभिर्महाव्यथाश्चिरं सेहे । सोऽन्येत्युन्नत्यनिःपद्यमानचैत्यजगती कृते जलं वहन्त्याचार्यादिकं दृढ़ा जातजातिसमृतिश्चित्यं कथमध्यमंचन् ज्ञानिवचसा प्राप्तमवपुत्रदृश्यं दत्त्वा महिषपालकान्मोचितः । ततः सहस्रगुणितेन प्रागभविकदेवदेयदानेन च तेरत्रणीकृतोऽसाक्षाशनेन स्वर्गतः । क्रमान्मोक्षं चेति । तेनोभयत्र विलंबो न कार्यः । संश्लिष्टे गो देवदृश्यादर्विद्धिः प्रवर्तते । संश्लिष्टे हि सावधानत्वेन तदभिरोधिकर्मस्वदोपपरिहारपूर्वाणां स्वातियमनितथा सहि विशे गो देवदृश्यादर्विद्धिः प्रवर्तते । संश्लिष्टे हि सावधानत्वेन तदभिरोधिकर्मस्वदोपपरिहारपूर्वाणां स्वातियमनितथा वरीहापुर्वेषुण द्विविशेषधर्माज्ञनादिगुणानां दि रसंवासो भवेत् । तथाचकादी मपि खलकायेत्साहृदयर्थं तथा तथा धनादिना वृत्तिसाहायं तथाचिद्यशाहृदयं यथा यथा चैत्यादः कार्येऽप्रमत्ताः स्वप्रमोदाः संतः प्रवर्तते । एवं सर्वयक्त्विताध्यभावे तु

द्वितीय
बृहदिक्षारं
॥ १३ ॥

चेत्यादिविनाशादिदोपा आभवेयुरतः प्रमादतः पूर्वोक्तचिता न मोक्ष्या सङ्कल्पयुल्लासाच्चतुर्बधादिति ॥ ९ ॥

इत्यस्मृ-
तिकावृच्छिः
॥ १३ ॥

अथेतद्वृद्धौ प्रशंसापूर्वं आद्वदिनकृत्यगाथाभ्यामधिकारिणं निगमयति ।

नो माया नो पिया भजा, सरीरं नेव वांधवा ॥ पिच्छुए तत्थ ठाणमि, जत्थ अत्थं तु पिच्छुए ॥ १० ॥

आगिङ्गा जो उ दूनवंमि, जिणहथं नेइ वित्थरं ॥ एएणं सो महासन्तो, तुच्छए जिणसासणे ॥ ११ ॥

(टीका) नो माया० अगि०-जीवः सर्वोऽपि सदेवानादिदुर्जयलोभग्रहश्वस्तत्वात् ग्रायो यत्र थाने रक्षणीयत्ववर्द्धनीयत्वादिनर्थमेव यथा परम ऋयतया ग्रेष्टते तत्र थाने तथा न मात्रादीन् ग्रेष्टते । यतः—तदर्थं जीवितमर्यनपेक्षमाणोसौ दुरितायत्रासंघातान् संधते संतोषपुशुधासारसंभारसिक्खांतवृत्तित्वात् स्वस्मिन्नवर्षे सर्वशाऽगुद्धः सन् जिनादिदृठं समय् ॥ १० ॥ एव सति यः संतोषपुशुधासारसंभारसिक्खांतवृत्तित्वात् उपलक्षणात् अन्येन वर्द्धीप्रयति अनुभोदयत्यपीत्यर्थः । रक्षणादिना विस्तारं नयति, स एतेन कारणेन महासन्त्व उच्यते । उपलक्षणात् ततः सङ्क्रितसत्त्वोल्लासः प्रवर्तते । ततः सङ्क्रितिसत्त्वोल्लासः प्रवर्तते । इत्थं च चरमावचारीदिसामरीवशात् माध्यस्त्वयादिमूलयुणा॒ः प्रादुर्भवन्ति । ततः सङ्क्रितिसत्त्वोल्लासः प्रवर्तते ।

च्छति । ततः पूर्वोक्ता वृद्धिरुद्देतीति परमार्थः ॥ ११ ॥

एवं देवदृठयादिवृद्धि कुर्वता श्राद्धेन तत्फलस्यो देवदृठयादिक्षितो भोगस्तयाऽय इति दर्शयत्वाह—
उच्चित्तण वाद्वाहं पि । उच्चित्तण वाद्वाहं, अव्रहा भन्ति भंगो य ॥ १२ ॥
दुविहं च हेवदृठं, भोगुवभोगेहि तत्थ दुविहं पि । चकारात् गुरुदृठयादिक्षितपि ग्राह्यं कुर्तः भोगोपभोगाभ्यां । सकृद्ग्रो-
(टीका) दुविहेति द्विविधं च देवदृठं भवतीति शेषः । चकारात् गुरुदृठयादिक्षितपि ग्राह्यं कुर्तः भोगोपभोगाभ्यां । सकृद्ग्रो-

द्वितीय
ब्रह्मिकार्थ
॥ १४ ॥

गाहं च वस्तु भोगः नैवेद्यस्तगादिकं । पुनः पुनरभास्त्राहं वस्तु उपभोगो भूषणगृहादिकं । तत्र द्विविधेऽपि द्रव्ये उचितेन वार्तितव्यं विभिन्नापारेण वर्तितव्यं । भोगोपभोगद्वयं स्वस्वोचितस्थानैवत्यादौ यथाहृदाज्ञं प्रयोक्तव्यं । प्रमोदातिशायादिसंभवाद् त्यथाद्वुचितस्थाने व्यापारणेन भक्तिंभग आप्येतेल्यर्थः । अत्रेदं तत्त्वं । देवादिभोगद्रव्ये स्वकार्येण व्यपारिते सति न्यूनीभव-
नेन ८ एं संविडितद्रव्यस्तगादितना प्रतीयते । तथा मति तदुचितोपभोगव्याघातेन तज्जन्यविभूषणभक्त्युल्लासादिभंगोऽपि संभाव्यते । उपभोगद्वये तुक्तदोषाभावेऽपि आज्ञातिक्तमनिःशूक्रताऽविनयादिदोषसंभवेनोभयभक्तिभंगः स्फुटं समुज्जंभते ८ उभयमपि श्राद्धेन यथासंभवं स्वकार्यादौ न व्यापार्य, उचितपदे च व्यापार्यमेव । तथाहि इव गृहचैत्रदृष्टिकित्वोक्षपूर्णीफललेवेद्यादिविक्रयोत्थं पुष्पभोगादि द्वयगृहचैत्रये न व्यापार्य, नापि चैत्रे स्वव्यापारोत्थं । किंतु सम्यक् रूपपुक्तव्याऽर्चकादेः पाश्चात् तद्योगाभावे सर्वैषां स्फुटं द्वरुपपुक्तव्या स्वव्यापारोपयेत् । अन्यथा मुद्या जनसंसादिदोपः । गृहचैत्रनैवेद्यादि चारामिकस्य प्रागुक्त-
मासदेवस्थाने नाप्यै । स्वधनार्पणसामर्थ्याभावे च आदावेच नैवेद्यार्पणेन मासदेवोक्तो तु न दोषः । मुख्यवृत्त्या मासदेवं पृथगेव कार्यं, गृहचैत्रनैवेद्यचोक्षादिकं तु देवगृहे मोत्थं, अन्यथा गृहचैत्रदृष्टेण गृहचैत्र्यं पूजितं स्थानतु स्वद्रव्येण, तथा चानादराच्चाजादिदोपः । न चैवं युक्तं । स्वदेहगृहकुटुंडवाद्यर्थं भूयसोऽपि व्ययस्य गृहस्थेन करणात् देवगृहे देवपूजापि स्वद्रव्येण च यथाचान्तिक कार्या । न तु स्वगृहदृष्टिनैवेद्यादिविक्रयोत्थद्रव्ये, देवसत्कपुष्पादिना चा, प्रागुक्तदोषात् । तथा देवगृहगतं नैवेद्याक्षतादि स्ववस्तुत्वं सुपकादेः समयग् रक्षणीयं, समयग् मूलवादियुक्त्या च विकेयं । नतु यथा तथा मोत्थं देवद्रव्यविनाशादि दोषापत्तेः । तत्रापि स्वतः चैत्रद्रव्योत्पत्त्यसंभवे तत्पूजायां व्यापार्य नान्यथा । तथा सति तद्रव्याप्तौ अनादराच्चाजादिदोपापत्तेः । तथा भोगविणाङ्गं दद्वव-

द्रव्यसप्त-
कावृत्तिः
॥ १४ ॥

निम्नलङ्घं चिन्ति गीयत्थेति वृहद्भाष्यवच्चनात् । यज्ञिनविंशतिरोपितं सत् विन्छायीभूत विग्रंथं जातं हृश्यमानं च निःश्रीकं न भव्य-
जनसनः प्रमोदे हेतुस्तत्त्रिमालयं ब्रुवन्ति बहुशुरा इति । संघाचारबृहत्युक्तेश्च भोगविनष्टमेव निर्मालयं । न तु विचारम्भारप्रकरणो-
क्तप्रकारेण दौकिताक्षतादेन्मालियवस्तुचितं । शास्त्रातरे तथा लोके अदृश्यमानत्वादशोदशमत्वादेव
सर्वं देवादिनिश्रितं द्रव्यं निमालियमाहुरिति । तत्त्वं पुनः केवलिग्रम्यं । तत्त्वं चर्पादी विशेषतः कुञ्जवादिसंसर्क्तः पृथक् पृथक् जनानाकम्य-
ग्रुचिक्षाने त्यजयते एवमाशातनापि न स्थात् । लाक्रजलमधि तथैवातः शेषावत् शांतिपानीयं मस्तकं एव दातत्र्यं । यदुक्तं हेम-
विरचनाच आभिषेकजलं ततु शुराचुरनरोगाः । वर्णदिरे मुहुः सर्वार्गीणं चोपरि चिकित्पुः १ ॥ पद्माचारित्रेऽपि ३० उद्देशो ।
उत्तमंगेमु २ ॥ वृहत्तशांतावधिकारे “अभिषेकजलं ततु शुराचुरनरोगाः । वर्णदिरे मुहुः सर्वार्गीणं समज्जाणं । तरुणचलयाहि नेत्रं वृहुं चिय चिय चिय-
आषाढचातुर्मास्याहिकावृद्धस्तात्राधिकारे “तं कवणसंतिसलिलं नरवृहणा पेसिअं समज्जाणं । पुष्टालंबने तु जरासंघमुक्तजरोपदुर्तं स्वैसन्त्यं धरणेद्रदत्तपाश्चिन्दिव-
स्तात्रां वृपरिक्षेपण श्रीकृष्णोन पट्टचक्रे । एवं श्रीपालमहीपालादिनामपि । बोद्धयमिति ॥ तथा यथासंभवं देवादिसंबधिगृहाद्वेत्रवादिका-
पाणगेषिकाकाष्टवंशकवेलुकमृतमुखादिकं श्रीकृष्णकलशवासकंपिकाश्रीकरीचमरचंद्रोदयज्ञ-
लरीभैयदिवाघसाचाणसरावजवनिकाकंचलकपाटपट्टपट्टिकाकुंभउरसिककज्जलप्रदीपादिकं चैत्यशालाप्रणाल्यागतजलाच्यपि
च स्वपरकार्यं किमपि न नयापार्थं । देवभीगद्रव्यवत् तदुपभेगस्यापि दुष्टत्वात् । चमरसाचाणदीनां मलिनीभवनवृत्तपाटनादि-
संभवे त्वयिकदोषोप्यतो देवसत्कं वादित्रमपि गुरोः संघस्यापि चाये न चाय । केचिच्चत्राहुः पुष्टालंबने बहुनिःक्षयापुण्पूर्व-

व्यापर्यतेऽपि । यतो “ लं विणा जिणाणं, उच्चारणं चमरछल्लसाइं । जो वाचरेह मृढो, नियकज्ञे सो हचडुहिओ ॥ १ ॥ ” स्थरं च व्यापारयता जातु भैंगे उपकरणस्य स्वद्रव्येण तत्य समारचनमिति । अन्यथा हु तिर्यगादिदुर्गतिदुःखभाग् देवसेनमातुवत् भवति । सप्रदायेऽत्र व्यांतो यथा—विधाय दीपं देवानां, पुरस्तेन पुनर्नैहि । गृहकार्याणि कार्याणि, तिर्यक्केव भवेयतः । इदपुरे देवसेनो व्यवहारी समात्को वसति स । तत्रैव पाश्ववर्ती धनसेन औष्टिको ऋशूर् । तस्य गृहाच्छिल्मेका उष्टिका देवसेनगृहे समेति । कुट्टियित्वा धनसेनेन गृहे नीतापि पुनर्देवसेनगृहे एव यात्वा तिष्ठति । तत इम्येन मूलयेन गृहीत्वा श्यापिता उभयोरपि स्नेहवच्च्यात् । एकदा तेन पृष्ठो ज्ञानी स्नेहकारणं प्राह । एषा पूर्वभवे तत्र माताऽप्यत् तयैकदा जिनामे पूजार्थं दीप विधाय तेन दीपेन गृहकार्याणि क्रतनि, धूपांगरेण चुल्मी संधुयिता तेन कर्मणा उप्तो जाता । अतः प्राणभवोऽय स्नेहस्त्रोचितः । ततः उचितं प्रायश्चितं कुत्वा सा सद्गतिं यवानिति । तथा ज्ञानद्रव्यमन्ति देवद्रव्यवल कल्पत एवातो ज्ञानसत्कं कागदपत्रादि साङ्घार्याणिं आदेन मच्कार्ये न व्यापार्य पुस्तिकाशामपि न स्थापयं समधिकनिष्ठिकं विनेति २ । श्राद्धानां साधारणमपि संचदत्तमेव कल्पते व्यापारिष्ठु न हु अन्यथा संघेनापि सपदेत्रीकार्यं एव व्यापाराय न मार्गादिभ्यो देयं । सांप्रतिकर्णवहारेण हु यद्गुरुत्युछनादि साधारणं कुतं स्तत् तस्य श्रावकश्राविकाणामपेण सुक्रियेव न द्वरयते, शालीदिकामे हु तत् व्यापारीत श्राद्धेरिति ३ । साध्वादिसत्कं त्रिवृत्तिकादेशपि व्यापारणं न युज्यते गुरुद्रव्यत्वात् । स्थापनान्वायजपमालादिकं च भ्यानादिधर्मवृद्धये ग्रायः श्राद्धापाणार्थं गुरुभिर्व्यवहियते अतिप्रतज्ञानोपकरणत्वात् । गुर्वीर्पत तद्वहेऽपि व्यवहारो द्वयते । तथा स्वर्णादिकं तु गुरुद्रव्यं जीणोद्धारे नवयचेत्यकरणादौ च नवपार्य । तद्यथा । गुरुपूजासत्कं सुवणादिद्रव्यं

द्वितीय
बृहदिक्षारं
॥ १७ ॥

गुरुद्रव्यमुच्यते । तथा प्रागेवं पूजाविधानमस्ति न वा कुन्त्रैचतदुपयोगीयुक्तयते । गुरुपूजासत्कं सुवणादि रजोहरणाद्युपकरणवत् गुरु-
द्रव्यं न भवति, खनिश्चायामकृतत्वात् । तथा हेमाचार्यणां कुमारपालराजसुवर्णं १०८ कमलैः प्रस्थं पूजा कृतास्ति तथा
“धर्मेन्द्राभं इति प्रोक्ते दूरादुचित्पाणये । सुरये सिद्धसेनाय ददौ कोटि॑ नराधिपः ॥८॥” इति इदं चाप्रपूजारूपं द्रव्यं
तदानीं संधेन जीणोद्धारे तदाङ्गया व्यापरितं । अत्रापि तककौलिन्यन्यायेन [‘न] मोह्यभोजकत्वसंबंधे नैविकोपयित्रित् पूजाद्रव्यं न
भवति, पूज्यपूजासंबंधेन तु तद्गुरुरुद्रव्यं भवत्येव । अन्यथा आद्वजीतकल्पवृत्तिर्विषयते किं वहुनेति । तथा जीवदेवसूरीणां
पूजार्थं अद्विलक्षद्रव्यं मल्लश्रेष्ठिना ददत्तं तेन च प्रासाद्यकार्यत् सुरिमिः । तथा धारायां लघुभोजेन श्रीकांतिवेतालसूरये
१२६०००० द्रव्यं ददत्तं तन्मध्ये गुरुणा च १२ लक्षश्चेन मालवांतश्चल्यान्यकार्यत । ६० सहस्रद्रव्येण च थिरापद्वैत्यदेवकुलिका-
द्यपीतीह विस्तरस्तु तत्प्रबंधादेवोऽध्यः । तथा चुम्पतिसाधुसुरि (साधुसुरि) वारके मंडपाचलदुर्गे मालिकश्रीमाफराभिधानेन आद्वा-
दिसंसगज्जिनधर्माभिमुखेन सुवणटककैर्गीतार्थानां पूजा कृतेति दृद्धवादोऽपि श्रूयते इति । तथा बालस्य नामस्थापनाचारसे
गृहादागत्य स बालः शाद्वो वसतिगतात् गुरुन् प्रणम्य नवमिः खण्णरूप्यमिहुरोत्तरांगपूजां कृत्वा गृहगुरुदेवसाक्षिकं दत्तं नाम
निवेदयति, तत उचितमंत्रेण वासमभिमंत्र्य गुरुः ३०कारादिन्यासपूर्वं बालस्य स्वसाक्षिकां नामस्थापनामनुज्ञापयतीति । तथा द्वितीय-
वर्षाऽष्टमेदादिका पूजा, संपूर्णदेववंदनं, चैत्येऽपि सर्वैचत्यानामर्चनं, वंदनं वा, स्वात्रमहोत्सवमहापूजाप्रभावतादि गुरोद्वहंदनं अंग-
पूजा प्रभावनास्वर्वस्तिकरचनादिपूर्वव्याख्यानश्रवणमित्यादिनियमा वर्षीचातुर्मासां विशेषतो ग्राह्या इति । एवं प्रश्नोत्तरसमु-

द्रव्य
काहुति:
॥ १८ ॥

चयाचारप्रदीपाचारादिनकराशाद्विद्याव्युत्सारेण श्रीजिनस्थेव शुरोरपि अंगाग्रपूजा लिखा । तद्भन्तं च गौरवार्हस्थाने पूजासंबंधेन प्रयोक्तक्यमिति ४ । तथा धर्मस्थाने प्रतिज्ञात च द्रव्यं पृथगेव व्ययितव्यं, न तु क्रियमण भोजनादिरूपव्यये क्षेप्यं । एवं स्फुटमेव धर्मयनोपभोगदेपात् । एवं सति ये यात्रादौ भोजनशक्टसंप्रेणादिन्यं सर्वं मानितव्यमयमःये गणयन्ति तेषां मूढानां न ज्ञायते का गतिः । उद्यापनादावधिपि श्रीठाडंचरेण खनाम्ना मंडिते जने वहु श्लाघादि स्थानिकंय तु स्तोकं मुंचतीति व्यक्तं एव दोपः । तथा सामान्यतो विशेषतो चान्यप्रदत्तधर्मस्थानव्ययितव्य धनव्ययसमये तन्नाम स्फुटं ह्य । एवं सामुदायिकस्यापि । अन्यथा पुण्यस्थाने स्तैन्यदोषापत्तेः । एवमंत्यावस्थायां पित्रादीनां यद्मान्यते तत्सावधानत्वे वर्दिसंघसमक्षमित्यं चाच्यं यद्गृहनिमित्यं इयादिनमध्ये इयद्वयायिष्यामि तद्बुमोदना भवद्विक्षिः कायेति । तदपि च सद्यः सर्वज्ञातं व्ययितव्यं । आभद्रेष्टिपूत्रवत् । तथाहि— अणहिल्लुपत्तने श्रीमालज्ञातीयनागराजश्रेष्ठी कोटीध्वजोऽभूत् । प्रिया च महिलादेवी । तस्यां साधानाया श्रेष्ठी विद्युचिक्या सुतः । दुषेणापूत्रत्वात् तस्य सर्वसं गृहीतं । श्रेष्ठिनी च ध्वलकपुरे पितृशुहे गता । क्रमात् अमारिदोहदे पित्रा पूरिते तया पुत्रो जहो । आभडेति नाम्ना । ततः पंचवर्षीयः पाठशालायां पठनिक्षातेति बालेकपोऽसौ मातृतः खस्त्ररूपे जाते यौवनामिषुखः पचने गतः । खगुहे श्लित्वा चाणिङ्गं कुर्वन् भावलदेवीं परिणिन्दे । ततः पुण्योदयात् प्राकृतनिधानलाभादिना कोटीब्जजो जहो । सुतत्रयं जातं । क्रमात् दुःकर्मणा धनत्वेन सपुत्रां पतनीं पितृशुहे ग्रेष्य मणिकारहदे मणिकारदीन् वर्षयन् यवमानकं लभते । ततस्य पिष्ठा पक्षत्वा चादन् कालं निरगमत् । अन्यदा श्रीहेमद्विषये इद्वापरिमाणे बहु संक्षिप्तेऽपि गुरुभिनिपिदेन तेन नवद्रम्मलक्षाः स्त्रीकृतासन्मानेनान्यदपि नियं तं । शेषं धर्मव्यये कार्यं । क्रमात् द्रम्मपञ्चकंशिज्ञातः । अन्यदेवनीलकंठाभरणं पंचदम्ममः क्रीत्वा

द्रव्य
द्वितीय
वृद्धिद्वारे
आभडश्रेष्ठि
पुत्रवरित्व
॥ १८ ॥

द्वितीय
बृद्धिदारं
आपहेश्चेष्टि
पुत्रचरित्रम्
॥ १९ ॥

समुद्दीप्येदनीलस्य लक्ष्मूलया मणयः कारिता: । क्रमात् धनी प्राप्तवद् जहे । कुटुंबं मिलितं । ततः साधुनां प्रत्यहं बृतपटदानसाध
मिकवात्सलयसत्त्वागारमहापूजाप्रतिवर्षपुस्तकलेखनचैत्यजीणोद्धारधिकारणादिधर्मकर्मणि कुर्वन् चतुरशीतिवर्षायुःप्रांते धर्मवहिकाना
चने अष्टनवतिलक्ष्मद्भूमयं श्रुत्वा श्रेष्ठी विषणः प्राह, हा कृपणेन मया कोद्युपि न व्ययिता । ततः पुत्रेस्तदेव दशलक्ष्मी व्यव्याप्तो-
तरां कोटीं पूरयित्वा अष्टी लक्षा: पुनर्मानिता: । सोऽनशनात् स्वर्गतः । जिनदासादिपुत्रैश्चोक्तविधिना धर्मधनं व्ययिते । क्रमेण
सद्वतिभेजे । एवं—अमारिद्वयाचार्यपि देवादिभोगेऽनिश्रितत्वात् नाशाति । तथा ज्ञानद्रव्यं च स्वस्थाने देवस्थानेऽप्यपुषुडयते
नत्वन्यत्र तथा द्रव्यलिंगिद्रव्यं चाभ्यदानादावेच प्रयोक्तव्यं । न तु चैत्यादो अत्यंतांशुद्वृत्तवात् । इत्थं प्रसंगतः सर्वत्र
धर्मोपकरणद्वयापारेऽप्यविद्यशाशातनाचारणाय विवेकः कार्यो विवेकिभिरन्यथा प्रायश्चित्तमध्यापद्यते । यदुकं महानिशीथे “अविहीए
नियमणुत्तरियं रथहरणं दंडगं च परिषुङ्गे चउत्थमिति” तेन श्राद्धेश्चरवलक्ष्मुखानंतकादेविविनेव व्यापारणस्वस्थानस्थापनादिकं कार्यं ।
अन्यथा धर्माचार्यादि दोषापत्तेरिति । सप्रपंचं बृद्धिदारं समाप्तम् २ ॥ १२ ॥

इति द्वितीयं बृद्धिदारं समाप्तम् ॥

एवं चैत्यद्वयादिवृद्धिं कुर्वतः कस्थचिदनामोगादिना चैत्यद्वयादिविप्रणाशोऽपि स्थात्, अतः पुनः कर्तुदारेण मुख्यवृत्त्या
गाथात्रयेण तद्देशानाह—
भवत्वेद् जो उत्तिवर्षेऽह, जिणद्रव्यं तु सावधो । पञ्चाहीणो भवेजीओ, लिप्पद्वयापावकम्पणा ॥ १३ ॥

बृतीयद्वारं
॥ २० ॥

(टीका) भलवेति कंठयं । नवरं भक्षणं देवदन्यस्य तदुपरस्य वा तु शब्दात् ज्ञानद्रव्यादेशं यमुपजीवनं १ उपेक्षणं तदेव परस्य कुर्वतः शक्तिसिवाणं २ प्रज्ञाहीनत्वमंगोद्भारादिना देवदन्यादिदानं यद्वा मंदमतितया स्वल्पेन बहुना वा धनेन कार्यसिद्ध्यवेदकत्वात् यथाकर्थचित् इन्यन्यकारित्वं कूटलेख्यकृतत्वं च ३ ॥ १३ ॥

चेऽपदन्वं साहारणं च, जो दृढ़इ मोहियमङ्गओ । धम्मं च सो न याणोइ, अहना बद्धाउ ओ नरए ॥१४॥
(टीका) चेहयेति । चैत्यदन्वं साधारणदन्वं चकारत् ज्ञानदन्यादिकं यो दोधिद्वयज्ञवहारादिना तदुपयोगिदन्यमुपादुक्ते उपलक्षणतस्तद्मुण्डणाति । अत्र तदुपयोगिलाभं चातुर्कादिदृद्ध्या निर्णय तद्वनं ग्राहं न त्वधिक परकीयत्वात् । यतः “ उचिं मुत् णकलं द्वाहाइकमागयं च उकरिसं निवडियमणिजाणंतो परस्स संतं न गिलिज्ञा ” २ । नयाल्या-उचितकला शर्तं प्रतिचतुष्कपुंचक बृद्ध्यादिरुपा “ न्यजे खात् द्विगुणं वितं नयवसाये चतुर्गुणमित्यादि रूपा वा तां । तथा द्रव्यं गणिमधरिमादि आदिशब्दात् तद्वत्तानेकमेद : तेषां इन्यादीनां क्रमेण इन्यक्षयलक्षणेनागतः संपन्नो यदुक्तपौर्वद्विरूपस्तं मुक्त्वा शेषं न गृहीयात् कोऽथः यत्कर्णचित् पूर्णीफलादि इन्याणां क्षयाद्विगुणादिलाभः स्यात् तदा तमदृष्टाशयतया गृह्णाति नत्वेवं चित्तयेत् सुदरं जातं यत्पूर्णीफलादीनां क्षयोऽभृत् इति, तथा निपतितमपि परसकं जानन् गृहीयात् कलांतरादौ क्रयविक्रयादौ च देशकालाद्यपेक्षया य उचितः शिष्टजनानिंदितो लाभः स एव ह्य इति भावः, इति प्रतिः ३ वर्ते ६ अतिचाराधिकारे एवं सति अधिकग्रहणे सदन्यवहारमंग आप्नेतेति तत्त्वम् ॥ १४ ॥

आय जो भंजइ, पडिच्चत्तथं न द्वैइ देवस्स । गरहंतं चोविकखइ, सो वि हु परिभमइ संसारे ॥ १५ ॥

पृष्ठः
॥ २० ॥

(टीका) आयाण ति—आदानं तुणागृहग्रस्तत्वाव् देवादिसत्कं भाटकं भर्नकं यो भर्नकं ६ तथा यः - पर्युषणादौ च चैत्यादिष्वाने देयतया प्रतिज्ञातं धनं न दते ६ तथा गहंतं इष्यादिवशाहुर्विक्येन दूष्यन्तमविनीतं यो वोपेक्षते तथा साति कदाचित्तादाप्यश्रवणात् महेदपुरीयश्राद्धवत् मानीभूय देवादिद्रव्यरक्षादौ शक्तिमानयुदासीनो भवतीत्यर्थः ७ यतः एतदेवमहत्पापं धर्मस्थानेऽप्युदासि इति ॥ १५ ॥ अशं संयतापेक्षयापि तदानाह—

चेहयदठविणासे तद्विविणासणे दुविहमेष । साहु उविकरवणो णांतं रिओ होइ ॥ १६ ॥

(टीका) चेहपति । चत्यद्रव्यं हिएण्यादि त विनाशो भक्षणादितो न्यूनत्वेन हानिरूपे विद्यंसरुपे च । तथा तेन चैत्याद्रव्येणासं द्रव्यं दारुपलेष्ट दि तस्य विनाशने च । उस्मिन् कर्षंभूते द्विविधे योग्यतीतमावभेदाव । तत्र योग्यं नव्यमानीतं चैत्यत्वेन परिणं तद्विविधे तत्र मूलं भक्तिभादि उत्तरं छाद-इत्यर्थः । अतीतमावं लग्नोत्पाटितं चैत्यत्वेन परिणतमि श्रूः । अथवा मूलोत्तरभेदात् द्विविधे तत्र मूलं भक्तिभादि उत्तरं छाद-इत्यर्थः । श्रावकः चैत्यवित्त विनाशयत् चैत्य व्या मे । यद्वा पश्चपरपश्चकृतभेदात् द्विविधे । एवमनेकधा द्विविधं । अत्रापि शब्द इयाहारादा । भणित इत्थं विनाशयत् चैत्य व्या मे । साधुरपि तत्रोदासीनं कुवणिं देशनानादिभरनिवारयन्ननंतसंसारिको यतेनापि सर्वथा न कायां इत्यर्थः । अयं भावः कारणभेदात् चैत्यद्रव्यं द्वि धं उपकारकं उपादानं च तत्राद्य भनादि द्वितीय योग्यद्रव्यं ते अपि भक्षणादिभेदात् प्रत्येकं विधं स्तः । तत्यपि नः पश्चपरपश्चकृतभेदात् द्विविधा । एवं चै द्रव्यं नाशोऽप्यादिविशतिथा बोह्यः । इत्थं ज्ञानद्रव्येऽपि भावना कार्या । साधारणादेस्त्रुचितोपां भक्त्वात् प्रत्येकं चतुर्दशभेदा भाव्याः । बालबोधार्थं यंक्रमपि दशनीयमिति ॥ १६ ॥

चैत्यद्रुद्धयादिविनाशाण्त्रकम्.

द्रव्यसप्त-
सिकाद्विति:
॥ २२ ॥

द्रव्यनामानि	चैत्यद्रुद्धयस्थ.	ज्ञानद्रूपयस्थ.	गुरुद्रूपयस्थ.	साधारण- द्रूपय.	धर्मद्रूपयस्थ.	सर्वसंख्या.
मेदांका:	२८	२८	२८	१४	१४	११२

अथ तदनुरोधातो विनाशकत्वेन पक्षपरपक्षो निहत्ययति—

रागार्हदोसदुट्ठो, जिणेहिं भणिअो वि त्सगो दुविहो । देवाइदव्यपणो, सपकस्वपरपकर्खभेषणो ॥ १७ ॥
(टीका) रागा इति व्याख्या कंठयं । नगरं रागादिदोपदुट्ठः, रागो दष्टिरागादिः । आदिशब्दात् देष्टलो माकुह्डिंश्रमानाभोगसु-
शयसहस्राक्तरामेषागुद्धयादिग्रहणं तद्योग्यतादशनार्थं हेतुगर्भितविशेषणमिदं । खपक्षः साधिंकर्वणः श्राद्धादिः १० परपक्षो वेद्यमि-
कलोकः पाण्डुलिङ्गादिरिति ॥ १७ ॥ अत्राह परः—

चोपद्द चेइयाणं, खित्तहिरपणेऽत गामगोचाइ । लुगांतस्स य जडौ, तिगरणसोहि कहं तु भवे ॥ १८ ॥
(टीका) चोएह इति । यः चैत्यादिवधकक्षेत्रहिरण्यग्रायगृहहट्टगोपादेरादानादिविधिना चित्यति तस्य त्रिधा
संयमवतः साधोस्तिकरणशुद्धिः कर्त्त्वं सादपितु न स्यात् यथा प्रतिज्ञाततत्त्वंभगांभवादित्यर्थः ॥ १८ ॥

अत्रोत्तर गाथायुमेनेह—
 भवद्वृहत्थ विभासा, जो प्रथाइं सर्वं विमणिगजा । तस्स न होइ विसोही, अह कोइ हरिज एआइ ॥१९॥
 भवद्वृहत्थ विभासा ओ तिगरणविसोही । सा य न होइ अभन्ती, तस्सा तम्हा निवारिजा ॥२०॥
 तत्थ करेइ उवेहं, जा भणियाओ तिगरणविसोही । सा य न भवति च विशुद्धचयसमवं
 (टीका) भनेति । तथेति अवाधिकारे मण्यते विभाषा विकल्पः न भवति च शुद्धिरित्यर्थः । तत्रादौ च विशुद्धचयसमवं
 दर्शयति । उत्सगतो यथावत् देवादिधनवृद्धिसंभवे यो राजामात्याद्यऽयथेनपूर्वे उक्तस्थानानि विमणियेत् चिन्तयेत् आदानादिविधिना तेभ्यो
 नव्यं धनमुत्पादयतीत्यर्थः, तदानीं तस्य साधोविशुद्धिनं भवति । अथ विशुद्धिसंभवं दर्शयति । अथ कोपि हरेहिनाशयेत् एतानि तत्र य
 भवात् आज्ञोलुंघनाच्च स्फुटं भवदुक्तदोपावकाश इति भावः । अथ विशुद्धिसंभवं दर्शयति । चात् पुनर्भक्तिरपि न स्यात् । तथा सति आज्ञाप्रमोदोत्साहमंगात्
 उपेक्षां करोति तस्य या त्रिकरणविशोधिभणिता सा न भवति । अतः केनचिद् भद्रकर्णिदिना ग्राग्निवितीर्णं अन्यद्वा
 पापानुबयः समुज्जुंभते इत्यर्थः, तस्सात् अविनीतं लुसाधुनिवारयेत् सर्वशक्तया । यदुक्तं
 जिनाज्ञाराधनादिलाभात् । यदुक्तं लुनेभ्युपेतवत्तहानिर्वेच, ग्रस्युत धर्मपुष्टिरेव जिनाज्ञाराधनादिलाभात् । अन्यद्वा
 निशीथ भावये ११ उद्देशे “इदाणि रायणिय कल्पन्ति उल्लेषणगाहा” चेद्वाणं वा तदव्यविणासे वा संजडकारणे वा अन्यमियकहि
 वा कल्पे रायादीणे सो राया तं कल्पन न करेइ सयं बुगाहिओ वा तस्साउटणनिसितं दगतीरे आयाविजा, तं च दगतीरं तस्स
 रणो उल्लेषणे ठियं गिगमपहे वा तत्थय आयावंतो ससहाओ आयावेइ उभयदलो धिहसंचयपोहि, तिरिआणं जो अवतरणपहो मणु-

आयोवेसि अह ते कज्जं करेमि, भोगे पयच्छामि, वरेहि चरं जोण तेऽहु, ताहे भगहि साहु, कज्जं ण मे वरेहि इमं संघकज्जं करेहि,
तओ तेण पडिवल्ल तहा कर्यति। “पुष्टालंबेन तु चारीर। चाष्टं भाय ल्यक्त भारभारिकवत् जिनशासनोपकाराय अनन्यन्वहारे
निषिद्धमध्यहेदाज्ञात्सारेणाचारितं कर्मनियमान्महानिर्जराकृद्वचति श्रीकालिकसुरि-श्रीभद्रचाहुख्यामि-श्रीवज्ञ-
स्वामि—श्रीहेमसुरि-मल्लचादिसुरि-चिन्तुणकुमार-धर्मघोषात्मादिवदिति। यदुकं संदेहदोलाचलीवृत्तौ एवमष्टाद
शासु पापस्थानेऽचतिप्रवृत्तास्याजानिरपेक्षयैवाघमः नान्यथाहृतशासनप्रत्यनीकगदीमेल्लतृपवंशागुच्छेदिनां श्रीकालिकाचार्या-
दीनां निःकलंकचारित्रित्वात् इति भावः। प्रज्ञापनायां आपापदेपि “उवउत्तो चतारि भासज्जायं भासमाणो आराहगो भवह्”
बृतिः शा “जिनशासनोङ्गुहादिनिराशार्थमसल्यामपि भाषां आपमाणः आरायको अवति। तथोपासकदशांगोपि
गुरुनिगमेणंगति” चैत्यादिरक्षार्थं प्रत्यनीकनिग्रहेण प्रतिपञ्चनियमभंगो न भवति। आवदयके प्रत्याख्यानाध्ययने च
महत्तरागारेण्टि। एवमादिप्रकारेण सुनश्चत्रमवार्तुभृतिवत् शासनाशातनानिवारणार्थं स्वजीवितव्यमोचनेनापि शासनोप-
कारः कर्त्तव्य एवेति कि वहुनेतेनोत्सर्गस्येन मार्गत्वं अपवादस्य तु स्वच्छन्ददत्त्वमिति बदंतोऽपि निरस्ता इति गाथाद्वयार्थः ॥ १९-
२० ॥ समाप्तं ३ दारम् ॥

अथोक्तव्यादिकसुलैकिं सत्फल दर्शयति—

एवं नाऊण जे दवनं, उहुङ्गुनिति सुखावया। ताणं रिद्धी पवह्नेह, किती सुखं बलं तहा ॥ २१ ॥
पुत्ताय हुंति से भन्ना, सोंडीरा ब्बिडि संजुआ। भवलक्खणासंपुद्धा, सुसीला जणसंमया ॥ २२ ॥ (युगमं)

चतुर्थद्वारम्
सागरश्रेष्ठ
ः
॥ २६ ॥

(टीका) एवमिति पुत्रायेति—ये सुश्रावकाः एवं पूर्वोक्तप्रकारेण द्विद्विधिं ज्ञात्या इव्यप्तचक वृद्धिं नयन्ति ते चांतरायादेः
क्षयोपशमादिना ऋद्धिः पुण्यादुर्बंधिभवः, सुखं मान कं ज्ञारीरं च, बलं परोपकारादिसमर्थं शारीरं ताहकपुत्रादि कुरुत्वंसंपत्तिः ।
उपलक्षणात् तथाविध्यसंततिवृद्धिः वाञ्छितसुखावासिः उच्चकुले जन्म सर्वत्र सत्कारसन्मानादिपूजोकर्षः औदार्यं गांभीर्यं विवेकित्वं
द्वारातिविच्छेदः आरोग्यं सदायुःप्रसरः रूपसंपत्तिः सौभाग्यं धर्मसाधनलिङ्गः चेत्यादि फलं सानुवंधतया अ भवन्ती था-
युग्मभावार्थः ॥ २१-२२ ॥ अथ लोकोत्तरं सफलमाह—

जिणपवयणतुहुकरं, पभावगं नाणदंसणागुणाणं । तुहंतो जिणदठवं, तित यारं हड्ड जीवो ॥ २३ ॥
जिणपवयणतुहुकरं, पभावगं नाणदं जाणां । र खंतो जिणदठवं, परित्त संसारि गे होइ ॥ २४॥ (युग्मम)

(टीका) जिणोति जिणपवयणाच्च व्याख्या उगमा । भावाथस्त्वयं । सति देवादिदृव्ये प्रत्यहं चैत्यादिसमारचनमहापूजासत्कार-
सन्मानानांभादिसंभवात्तत्र च ग्रामो यतिजनसंपाततदेशनाश्रवणादेश जिनप्रवचनं द्वेजानादिप्रभावना च प्रतीता । अत एव तद्व-
द्वयतोहत्यच्वचनभक्त्यतिक्षयात् परंपरया जग नोपकारकत्वात् अप्रमत्तया सम्यग् धर्मतीश्वराधकत्वाच्च सागरश्रेष्ठित्वं तं सारोच्छेद-
दशयोजकः पुण्यकाष्टापन्नाहत्पदलाभीड्यत्र सुलभ एवेति भावः । तथाहि—

माकेतपुरे सागरश्रेष्ठी परमाहंतो वसति सा । तस्मै उश्रावकत्वात् तत्रत्यश्रावकैः संभूय चैत्यद्रव्याधिकारो दत्तः ग्रो । च “चै-
त्यकम्कृतां सूत्रयारादीना मोजनमासदेयादिचिंतापि भवता कायेति” । सोऽपि दुःकर्मवशात् लोभातः सूत्रधारादीनां न रोक्यं ददी

चतुर्थद्वारम्
सागरश्रेष्ठ
दृष्टान्तः ॥ २६ ॥

किंतु समर्थं धायंगुडैलवृत्तवस्त्रादिकं चैत्यद्वन्धेण संगृहा तेभ्यो महर्यं ददत् शेषं च स्वयं गुह्णाति । एवं रूपकाशीतिभागरूपणां काक(किणी)नामेकसहस्रो लोभेन सगृहीतः । ततोऽजिंतं च कर्माइनालोच्य स मृतः । सिंधुनदीते संप्रदागथलपर्वते जलमात्रीपीभृय समुद्रांतर्जलचरोपद्वन्निवारकाङ्गोलिकाग्रहणार्थं जात्यरत्नप्राहकप्रयुक्तवज्रघरट्पीडनमहाव्यथया मृत्वा वृतीयनरके नारकोऽजन्ति । नरकादुद्वचश्च महामत्स्यः पंचयतुःशतमानो म्लेच्छकृतसर्वांगठेदादिकदर्थनया मृतश्चतुर्थनरके । एवं एकद्वयादिभवांतरितो नरकस-सकेऽप्युत्पैदे । ततः सहस्रवारात् कर्मण गच्छशूक्रमेपशुगालमाज्ञारमूपकनकुलगृहकोकिलगृहगोधासप्तवृपभकरभगजादिषु तथा कृभिं गंखगुक्तिजलीकः कीटवृच्छिकपतंगादिषु पृथिवीजलानिलवनस्पतिषु च समुत्पद्य तत्रैव व्युत्कर्मेण लक्षसख्याकान् भवात् वश्राम । ततः क्षीणप्रहुकर्मासौ वसंनपुरे कोटीश्वरवुदचवसुमत्योः पुत्रो जातः । गर्भस्य एव प्रनादं सर्वं द्रव्यं । जन्मदिने जनको विष्वनः । पंचमे वर्षे माता मृता । लोकैतिःपुण्यक इति दत्तनामासौ रंकवद्वृद्धिं प्राप । अन्यदा च स्नेहलेन मातुलेन स्वगृहं निन्ये । तदा रात्रौ त गृहं चौर्मुचितं । एवं यस्य गृहे वशि तत्र चौरामिप्रसुखा उपद्रवा स्युः । ततस्त्रालित्सीपुरीं गत्वा विनयधरमहेभ्यगृहे तस्यै । ततो सपुद्रतीर्णं प्राप्य तदश्वामाधिप्रसुखा उपद्रवा स्युः । अन्यदा धा । निपातिः ठक्कुरो निःपुण्यकस्तु ठक्कुरसुताध्या पद्मलयां नीतः । तदिवसे एव चान्यपल्लीपतिना सा पह्ली विनाशिता । ततस्तेरपि निर्भाय इति निःकासितः एवमेकोनसहस्रेष्वन्य निषु तस्करजलानिल-स्वचकपरचकाद्यनेकोपद्रवसंभवात् निष्कामानादिदुर्व वहन अन्यदा महाटन्यां सप्रत्ययं सेलक्यक्षप्रासादं प्राप्य एकाग्रतया तमाराध-यामास सद्गुणादेवदनपूर्वकं । तत एकाविंशत्योपवासैश्च तुयो यक्षः ग्राह-भद्र ! संद्यायां सम पुरः सुत्वणचंद्रालकृतो महात् मयै

द्रव्यसम-
काद्युचिः
॥ २६ ॥

चतुर्थद्वारम्
सागरश्रेष्ठ
दृष्टान्तः ॥ २७ ॥

नृत्यं करोति प्रतिदिनं च प्रतितानि कनकपिंचलानि लवया ग्राहानि । ततो हृष्टे तेनापि किंवल्यापि गृहीतानि । एवं च प्रत्याहं ग्रहणा-
न्नवर्णती पिंचलानां प्रासा शतमेकं शेषं तिष्ठति । तदानीं दुःकर्मप्रेरितेन तेन एतद्ग्रहणायाद्यापि कियद्विवं चारणे खातव्यं तद्रमे-
कमुष्टुचेन सर्वाण्यपि गृहामीति विचित्य ताहिने गृहीतुं याचत्प्रतिष्ठानिकेकी काकरूपः समुड्डीय गतः ॥
पूर्वं गृहीतपिंचलान्यपि नष्टानि । ततो घिगमया मुख्यैतत्पुक्षय कृतमिति विषण इतस्तो अपन् ज्ञानिन् मुनि वृष्टा नत्वा च स्वकर्म-
स्वरूपं प्रपञ्चु । तेनाप्युक्तं यथातुभूतं प्राप्तभवस्वरूपं । ततो देवदन्योपजीवनप्रायश्चित्तं ययाचे । मुनिनाष्टुकं समयिकं तावत् देवाय
देयं ततरसेन सहस्रगुणदेवदन्यवर्धिं स्वनिर्वहिमात्राधिकं स्वरूपमपि वस्त्राहारादि न ग्राहमिति नियमो जग्नुहे । ततो यद्यद्वयवहरति
तत्र बहुदन्यमर्जयति । एवं स्वलैपैदनैः प्रापुपजीवितसहस्रकाकिणीस्थाने काकिणीलक्षदशकं प्रादात् । ततो देवस्यानुष्टीभूतोऽसौ क्रमात्
आज्ञितप्रभूततरदन्यः स्वपुरप्राप्तो महेभ्यो जग्ने । ततः स्वयं कारितेषु अन्यकारितेषु च सर्वज्ञानेषु च सर्वज्ञानलया
प्रत्यं हृजाप्रभावनादिविद्यापन देवदन्यरक्षणवृद्धिप्राणादिना जिननामकम् वद्धनाम् । अवसरे दीक्षामादाय गीताश्चभूतः सर्वार्थसि-
द्धौदेवत्वमतुमूर्य महाविदेहृदिभूतिं भुक्तवा सिद्धं इति । एवं तदक्षाकुरुरपि फलं वाच्यं एतेनानुषंगिकं शुभमफलं दर्शितमिति परमायः
॥ २३-२४ ॥ अशेषसंजिजिष्ठसान्तिकं सतफलं दर्शयति—

एवं नाउण जे दठ्वं, तुहुं निति सुसावया । जरामरणरोगाणं, अंतं काहिति ते युणो ॥ २५ ॥
(टीका) एवमिति । एवं प्रवचनप्रभावकत्वादिकं जरामरणरोगाणं अंतं आत्मंतिकदुःखसं मोक्षमित्यर्थः । समाप्तं ४ द्वारमिति ॥२५॥
॥ इति चतुर्थद्वारं समाप्तम् ॥

अथोक्तविनाशकस्य पारभिविकं दोषोदयं दर्शयति—
देवाहद्धणासे, दंसणमोहं च वंधए मूढो । उत्समग्नेदेसगो वा, जिणमुणिसंघाडि सत्तुवव ॥ २६ ॥

(टीका) देवा हृति—देवादिद्वन्यविनाशेन मिश्यात्प्रकृतिं चात् अन्या अपि पापफृतीं मुठलददुर्विषाकानभिजो वडनाति । उन्माग्नेशक इव कङ्काद्विग्रारचादिवशादसदभिनिवेचाद्वाद्वन्यप्रलपक इव । अथवा जिनमुनिसंघादिप्रत्यर्तीक इवेत्यर्थः । प्रायः आया-संश्लष्टाध्यवसायवचात् चैत्यद्वन्यादिप्रव्यनीको दश्यनमोहं निकाचयन् तदनुरोधात् अन्या अपि पापप्रकृतिचिदोषतो वधनातीति भावः । यहुकं कर्मयन्थे “उम्मग्न देसणा मण्ण, नासणा देवदव्वरणेहि । दंसणमोहं जिणमुणि, चैद्यसंघाइपडिणीओ ॥” निश्चीयत्वूणो १? उद्देशोऽपि “तत्थ दंसणमोहं अरिहंतपडिणीययाए एवं सिद्धचेद्यतवारिति सुअधम्मसंघस्स य पडिणीयत्तं करंतो दंसणमोहं चंघइति ॥ २६ ॥

एवं सति तस्य का हानिरित्यांशंक्योक्तातुकपाप्रौढिमाह—

चैद्यअद्वचविणासे, इसिद्याए पवदयणस्स उडुहै । संजड चउत्थमंगो, मूलगति चोहिलाभस्स ॥ २७ ॥
(टीका) चैद्येति । चैत्यद्वन्यं हिण्यसुवर्णनाणकादि तथा काएटिकापाणलेप्यतहृतपाठकलरुचंद्रोदय भाजनसबुद्दीपादिक्युपकरणमपि सर्वं चैत्यादिद्वन्यपुच्यते । तद्विनाशे कृते सति चोविद्विष्मुलेऽपिर्दत्तः । तथा सति पुनर्नवोऽसौ न भवतीत्यर्थः । अत्रेदहाद्, चैत्यादिद्वन्यविनाशे विवक्षितपूजादिलोपः, ततस्तद्वेतुकप्रमोदप्रभावनाप्रवचनवृद्धेरभावः, ततो वद्दमानगुणशुद्धे रोधः, ततो

मोक्षमार्गव्यावातस्तो मोक्षव्यावातः, कारणमावे कार्यातुदयात् । यदुकं वसुदेवहिंडो १ लंडे “ जेण चेह अदव्वविणसि आ-
तेप जिण बिंबप्रादसणां दितहियथाणं आवसिद्धियाणं सम्मदसणासु अ-ओहि-मणपज्जव-केवलनाण-लिठवा-
णाला भा पडिसिद्धा । जायतप्रभवासुरमाणुसकुद्धिजायमहिमागमस्स साहुजणाओ धर्मोवएसोवि तत्थणुसज्जणा य सावि पडि-
सिद्धा तओ दीहकालठितीयं दसणमोहिन्ज कम्मं निवंधइ असायवेयणिजं चेति । एवं ऋषिघातदावपि भाऊं ॥ २७ ॥
नन्वेवं सति अभव्यसेव भव्यस्यापि पुद्योगिलामो न भविष्यति इत्याशंक्य प्रसंगतः तदप्राप्तौ कर्तृद्धारेण कालावधिमाह—
तित्थयर यवयण सुअं, आयरिअं गणहरं महहीअं । आसायंतो बहुसो, अणंतसंसारिअौ होइ ॥ २८ ॥

(टीका) तित्थयरेति । व्याख्या । कंठथं नवरं । तीर्थकरोऽहदादिःएवमाचार्यादावपि भाऊं । देवादिद्रुतं विनाशादिद्रुतारा-
पतानसकुन्निःशुक्लयन्तमात्मानप्रत्ययान्तमात्मानुगता पापकर्मणः सातुवंधता वीःया तेन समयक्तवस्तुप्ययादीनामन्ततकालं यावत् व्याप्तातः
यतारतस्यादुक्ताशातनाप्रत्ययान्तमात्मानुगता पापकर्मणः सातुवंधता वीःया तेन समयक्तवस्तुप्ययादीनाम-
सात् पुण्यविपाकसु च असंख्यातकालं यावत् जघन्यपदे च ग्राय उभयत्र संख्यातभवान् यावदिति स्थितिः । एवं श्रुतद्वारेतानाशासा-
तयतासुत्थून्नभाट्यादीनामपि प्रायोऽनंतसंख्यारित्वं बोधयं । यदुकं सहानिक्षीथे २९ “ जेण तित्थगराईं महई आसा-
यणं कुज्जा सेणं अज्जवसायं पहुच जाव अणंतसंसारियत्वांति ” ॥ २८ ॥

अथोक्तदोपस्स वेशद्यार्थं कतिचिद्दुर्विपाकाम् दर्शयति—
दारिद्रकुलुपत्ति, दरिद्रमावं च कुठरोगाइ । बहुजननिधिकारं तह, अवणवायं च दोहरां ॥ २९ ॥

द्रष्टव्यसम्भवः
कार्यात्मिकः ॥ ३० ॥

तज्जाच्छुद्धाभिमभूई धायणावाहणविचुद्धणस्त्रिय । एआइं असुहफलाइं निसीअइ भुंजलाणो सो ॥३०॥ युगमभ-
कार्यात्मिका) दारिहेति । तलेति । भिष्ठुकद्विजादिकुलोपत्तिः । तत्रापि स्थास्मिन् विमवगाहित्यं, चात् यांछितरोशसर्वोपमानादित्यहणं,
यातनमसिंकुंतादिभिः छेदनं । याहनं लचणायःप्रभुतिभारकषणं । चूर्णनं मुहरादिना कुट्टनं । चक्कारात् दुग्धतिपारचक्ष्यपरतंत्रव्यात्तिमाता-
पित्रादिकुंडवंसंतानोच्छेदादिग्रहणं । एतानि प्रतिभावं दुःक्षमर्फलानि असकृत भुंजमानः स चैत्यद्रव्याद्याकातको विषीदति-विषादादिना
व्याकुलो भवति । उक्तदोपोदयोद्वालितपापविपकोपलीव्यदुध्यनपरिणत एव सदाऽवतिष्ठते-इत्यर्थः । अतो दुरनुभागवैचित्रयात् दुविन-
पाकानुबंधता स्फुटीकृतेति भावः । तत्र च संख्यातभविका सात्रुंवंधता वक्ष्यमाण संकाशादिवत् बोद्या । असंख्यातभविका च रुद-
दत्तवदवसेया । तथाहि-भरतक्षेत्रे स्वर्णपुरे नगरे अंधकव्युष्णिराजा राज्यं चकार । अन्यदोधाने सुप्रतिष्ठेत्वेली समवासरव् । उद्यानपालेन
विजाप्ते राजा च समहं तत्र गत्वा यथाविधि प्रणम्य योग्य ने समुपाविश्यतु । केवली देवतां ददौ । तदवसाने त्रुपेण तिं पूर्वभव-
चरितं पृष्ठं । ततः सुप्रतिष्ठेत्वेली अंधकव्युष्णिमवदत् । भरतक्षेत्रे अयोध्यायामनंतवीर्यनुपोऽभृत् । तत्र सुरेंद्रदनो वैश्यशाद्वः सदर्शनः
प्रतिदिनं दशभिदीनारेष्टयां द्विगुणेः चतुर्दशयां चतुर्गुणेः अष्टानिहकादौ च ततोऽधिकैर्जिनाचार्यं कुर्वन् दानशीलादिकमभ्यस्यात् सर्वत्र
कीर्तिमान् जडे । एकदा श्रेष्ठी द्वादशान्दोपयोगिदव्यं पूजार्थं स्वचल्लभसित्रस्य रुददत्तविप्रस्य समर्प्य जलाच्चना देशांतरं गतवान् ।
विशेण च द्यूतादिव्यपैतैस्तद् भक्षयित्वा पर्लीयु निशिं । अन्यदा ततो गोधनं गुहनसौ तलवरेण पृष्ठो चाणेहतो मृतस्तत्कर्म प्रभावात्
संवेदेन सप्तम्यादिद्यु नरकेपु मत्स्यादिपु तिर्यक्षु चागमत् । ततश्चिरं कालं त्रसस्थावरयोनिष्वअमत् १६ । ततः कुरुदेशो गजपुरे कपिल-
बाडवगृहेऽनुद्दरा ततिर्यागमेऽवतीर्णः । बदानीं अवशिष्ट पापातुभावात् पिता यृतः जनन्यपि घृता लोकेगोत्तम इति नाम दत्तं च ।

कर्त्रदत्तः
द्वापान्तः

पंचमद्वारम्
॥ ३० ॥

ततो मातुखसा कटाद्वार्धतोऽसौ यौवनाभेषु यै आहाराये गृहे गृहे अटम् थीणदेहे भोजबर्मणे न लब्धवाच् ॥७॥ अन्यदा समुद्दे-
नास्त्रयं मुतिमशक्तादिना सत्कृतं सन्मानिं इष्ट्वा भोजनाभिलाषेण तत्पार्श्वं साग्रहं च दीक्षां जग्राह । क्रमेण श्रुतपारागामी भाष्माधुर्जातिः ।
तदगुरुस्तु मध्यमेवेयकेऽभिद्रोऽभृत् । सोपि श्रियदं लब्धवा यतिशावकेः पूजितो मध्यमेवेयके तपोबलात्मुरोऽभृत् ॥८॥ ततश्चुत्वा-
चांधकद्विष्णुनामा नृपस्तर्वं यदुवर्णेऽभृः ॥९॥ अशास्मिन्नेव भवे संयमं यृहीत्वा मुक्तिपद लास्यसे । इति दिक्षपटवृत्तहरिच्छापु-
राणाचसुदेवहिंडो प्रथम खंडे च । एवं वाह्या अपि दोपसंभवं प्रवक्षते पुराणादौ । ” देवदद्वयेण या-वृद्धिगुरुदद्वयेण यद्दुनं । तद्दुनं
कुलनाशाय, मृतोऽपि नरकं ब्रजेत् ॥१॥ यद्दिः:-सम्भृद्धिः कुलनाशाय-कुलकुंडेदाय स्यात् । ऐहिकं निकृतं फलं दर्शितं । स च देव-
दद्यादिभक्षको महापापोपहतचेता मृतोऽपि नरकं सातुर्वं धृतं ब्रजेत् । इदं पारभविकं फलं दर्शितं ॥२॥ पुनस्तत्रैव दोषातिशयं
दर्शयति । ” प्रभास्वै मा मर्ति कुर्यात्, प्राणैः कंठगतेरपि । अग्निदध्या ॥ प्रोक्षंति, प्रभादध्यो न रोहयेत् ” ॥३॥ प्रभास्वं देवदद्वयं
अथवा लोकप्रतीतं जनसमुदायमेलितं साधारणदद्वयं ज्ञातिदद्वयमित्यर्थः । अग्निदध्याः पादपाः जलसेकादिना प्रोक्षंति पद्मवयंति ।
परं प्रभाऽ देवदद्वयादिविनाशोग्रप्रापपावकदद्वयो नरः समूलदग्धदुमवत् न पद्मवयति । प्रायः सदैव दुःखमाकृत्वेन पुनर्नवी न भवती-
त्यर्थः । २ अशोकानुकपापग्रीहिं दर्शयति । “प्रभास्वं ब्रह्महत्या च, दरिद्रदस्य च यद्दुनं, गुरुपत्नी देवदद्वय, स्वर्गस्थमपि
पातयेत् ” ॥४॥ तथा दिग्गपटमंथेऽपि “वरं हालाहलादीनां, भक्षणं शृणुःशंदं निर्मालयमक्षणं चैव, दुःखदं जन्मजन्मनि ” ॥५॥
वरं दावानले पातः, क्षुधया वा मृतिर्वरं, मृद्धि वा, पतितं वज्रं, नहु देवस्वमक्षणं ॥६॥ ज्ञातवेति गिननिग्रंथ-शासादीनां धनं नहि,
गृहीतव्यं महापाप कारणं दुर्गतिप्रदं ॥७॥ एवमेहिकपारभविकदेवा प्रदर्शिताः । इति भावः ॥८॥ संवेदश्चाय—

अथ चोरितदेवादिद्रवयेण स्वार्थं निः पादितोऽस्याहारः
साधूनामकलद्यस्तः प्रयोजकनावैश्यार्थं उहभविकदोपान् व्यवहा-

शुष्पि:
॥ ३२ ॥

तारकी.

भव.

तिर्यच जाति

भव.

७ मीमां	२ जो	मतस्यामां	३ जो
६ ठीमां	४ शो	सिंहमां	५ मो
५ मीमां	५ ठो	मप्पमां	७ मो
४ शीमां	८ मो	व्याघ्रमां	९ मो
३ जीमां	१० मो	गरुडादिमां	११ मो
२ जीमां	१२ मो	भुजपरिमां	१३ मो
१ लीमां	१५ मो	नरमां	१५ मो

साधूनामकलद्यस्तः प्रयोजकनावैश्यार्थं उहभविकदोपान् व्यवहा-
रभाष्यगाथात्रयेणाह—
चेइयद्वन्नं विभज्ञा करिज्ञा, कोइ अ नरो सयठाए ।
समणां चा सोव्वाहिअं विक्षिज्ञा संजयठाए ॥ ३१ ॥
एआरिसंस्मि दब्बै, समणाणां किं न करपए घिरुं ।
चेइयद्वन्नेण कर्यं, मुल्लेण जं सुविहिआणं ॥ ३२ ॥

तेण पडिच्छ लोपयनि, गरहिआ उत्तरे किसंग पुणो । चेइय जड़ पडणीए, जो गिळइ सो विहु रहेव ॥३३॥
(टीका) चेइयेति । चैत्यद्रव्यं चोरसमुदायेनापहत्य तन्मने कोपि नर आत्मीयमागागतधनेन गयहुए आत्मनोऽर्थय मोदकादिकं
कुर्यात् । ततस्तदशनादिकं संयतानां दद्यात् । अथवा यः स्वार्थीय अमणं सोपयिक विकीर्णितः ततः प्रासुकं वशादिकं संयतेभी
दद्यात् ॥ एआरिति । एताहशेन द्रव्येण यत् आत्मार्थं कुर्नं तत् अमणानां किं न गृहीतुं कलपते श्वरिराह । यत् चैत्यद्रव्येण यच्च
सुविहिताना मूल्येनात्मार्थं कुर्तं तदितीर्यमान न कलपते ॥ तत्र किं कारणमिति चेदुच्यते । तेणेति । चोरानीतस्य प्रतीन्नां प्रतिपाचिः
लोकेऽपि गर्हिता । किं पुनरुत्तरे लोकोंतरे मार्गं सुतरां गर्हिता एव । ततश्चैत्ययतिप्रलयनीकस्य हस्ताइ यो गुहाति सोऽपि

पंचमद्वारम्
॥ ३४ ॥

तथैव चैत्यप्रत्यनीक एव । यदुकं संवक्तुलके । जो साहजं बहुह, आणा मंगे पवहमणण । मणवायाकाएहि, समाणदोसं तयं
विंति ॥ ५ ॥ अनिराकरणेनाज्ञामंगहेतुत्वात् ॥ ३२-३३ ॥

अथ आद्वादिनकृत्यगाथया पुनरेनमेवार्थं स्पृष्टयन् आह—
चेइअद्वर्वं गिहितु, भुंजए जो उ देइ साहूणं । सो आणाअणवत्थं, पावइ लिंतो वि दिंतो वि ॥ ३४ ॥
(टीका) चेहयेति । चैत्यादिद्वर्वं गृहीत्वा यः स्वयं शुक्तेऽन्येभ्यः साधुगृहकृत्वापि साधार्मिकाणां दददपि भगव-
दाज्ञामंगं निपिद्वाचरणरूपं ग्रामोति । तथाऽनवश्चाऽन्येषां श्रद्धाशैथिलयं च प्रापयति ॥ ३४ ॥

प्रसंगतोऽन्येषि दोषास्तत्वृत्तिगाथाभिरुक्त्यन्ते—
एकेण कथमकज्जं, पुणोत्रि तप्यच्चया कुणइ । वीओ सायाबहुल परंपर बुडेओ संयमतवाणं ॥ ३५ ॥

(टीका) एकेगेति । अनाचार दर्शनात् बालादीनामपि कुप्रवृत्तिसंततिरूपः प्रसंगदोष आपद्यते इत्यर्थः ॥ ३५ ॥
जो जहवायं न कुणइ, मिठाहिड्ही तओवि को अन्वो । वहुड्हेअ मिच्छत्तं, परस्त संकं जणेमाणो ॥ ३६ ॥
(टीका) जोजहेति । अनाचारे आचारधिया मित्यात्वधिः सादित्यर्थः ॥ ३६ ॥
संजमअप्यपत्वयणनिराहणासंभवो विहं गोउ । पवयणहेलावि तओ, अवणोओ तस्स संसग्गो ॥ ३७ ॥

संयमेति—चैत्यादिद्वर्वभक्षणेन त्रिवा विराघना संभवेत । तथाहि—

(टीका) संयमविराधनाऽन्यायोपात्तिवित्तोऽहतवस्तुगृह्णान् तत्कृताऽसंयमातुमोदना रूपा स्फुरं प्रतीयते, तथा सति यथा प्रतीयसप्तप्ति कर्त्तव्यतोप आपद्यते । यदुकं संघ लके । “आणामेंग दद्दु, मज्जन्त्या ठिंति जे तु णिआय । विहिअ मोअणाए तेसिंपि अ होह बयलोचो ॥ २ ॥” आत्मविराधना तु ग्रत्यनीकदेवतादिछलतलक्षणाप्रतीता । यतोऽहेदाज्ञापरिहारेण प्रमादाशौच-वस्तुस्वभावतोऽप्तदुष्टजे शाकिनीदृष्टिवत् तेषां गाँ इप्रतीहता भवति । यदुकं नयवहार भाव्यदशमोहेशके “राया इव तिथ्यरो” इत्यादिगाथावृत्तै । ये धधवः प्रजास्थानीयाः राज नीयस्य तीर्थं त आज्ञां ना पालयन्ति ते प्रांतदेवतयापि छलयं-तेऽपराधिन इव दंड्यन्ते डति ६ । प्रवचनविराधना च प्रवचनमूलयतिचेत्ययोरुपद्रवेण स्तेनार्थप्रतीच्छुल्या च मुप्रतीतेव ७ । तथा प्रनचनहेला एवं लोकविरुद्धं संस्तवं कुर्वतां सर्वज्ञपुत्रत्वेन लोकान् व्यामोहयतां जेनानामकिंचित्करं दशेनमतोऽहुएकलयणा एते ख्येऽपि सदाचारागंधं न जानंतीत्यादिविसापि प्रवर्तते ८ । एव दि ऐहिकदोषप्रकर्पसंभवात् उक्तदुराचारवत् स्य संसर्गः परिहर्त्य एव । समत्संस्तु उपादेयो विवेकिनेति भावः । एतावता ध्रुवैत्यादिविक्रस्तेन्योत्थिदन्यभोगेन गृहिणामनाचारः स्पृष्ट एव । चौयनीततदर्थभोगे तु प्रस्तारेण प्रायश्चित्तविधिः संभाव्यते । इतितत्त्वम् ॥ ३७ ॥

ववहारसुच्छि धर्म -मूलं । ण संगाच्या ।
(टीका) ववहारेति । मोहमंदतानुरोधेनोचितकर्माभ्यासो नयवहारशुद्धिः साधुःयः संगतार्थसंगत् प्रतिपक्वा धर्म भूलं भवति । अथ तत्प्र यां साद्वद्वाग्नाथादयेनाह—

वव रिण सुखेण, तथसुच्छि ज गे भवे ॥ ३८ ॥

अथेणं चेव सुद्देणं, आहारो होइ सुद्धओ । आहरेण तु सुद्देणं, देहसुद्धी जओ भवे ॥ ३९ ॥
सुद्देणं चेव देहेणं, धर्मजोगो य जायइ । जं जं कुणह किच्चं तु, तं से सफलं भवे ॥ ४० ॥
(टीका) वचहारेति-अथेति-सुद्देति-कंक्ला । नवरं धर्मयोगो विधियोगः । लौकिके लोकोत्तरे च मांगे विधियोगेन यत् यत्
कार्यं यः करोति तस्य तत् तस्यातुं धर्मसफलकुह्द भवेत् ॥ ३८-३९-४० ॥

अथ तत्त्वात्प्रभूतमसत्संगं विगदयति—
अवहा अफलं होइ, जं जं किच्चं तु सो करे । वचहारसुद्धिरहिओ, धर्मं खिंसावए सर्वं ॥ ४१ ॥
(टीका) अबहा अफलमिति-अन्यथा दोपवत्संसर्गेण क्षयचहारसुद्धिरहितः शावकादिर्यत् कुत्यं करोति तत् चिवाद्धि-
तफलरहितं अनिप्रफलकुह्दा भवति अविधियोगादित्यर्थः । तथा च धर्म्य सदतुष्टानमपि खकं आत्मानं च बालेनाल्यवहेलयेत्

॥ ४१ ॥ तथासति का हानिरित्याह—
धर्मं खिंवसं कुणंताणं, अटपणो अटपणस वा । अबोहि परमा होइ, इह सुने विमासिअं ॥ ४२ ॥
(टीका) धर्मं खिंसमिति-एवमनामोगादिना धार्मिकीं निंदां कुर्वतः कारयतो भवांतरे यथासंभवमवोध्यभवति । उपलक्षणतो
धर्मिन्दाहेतुत्वेन प्रायः सातुं नदीभर्यदैस्त्वयव्याधिदुर्गात्यादिदोषाः संभवेयुरिति । ‘सुने’ छेदभाव्यादौ श्रुते भाषितं ॥ ४२ ॥
अथ प्रसंगतोऽतुक्तसंसर्गपरिहारमपि दर्शयति—

जन्मारिवेसत्वर, भट्टायारा कुकस्मकरीणं । पासंडि निङ्गवाणं, संसग्मं धर्ममओ चयह ॥ ४३ ॥
(टीका) जूआरिवेसेति—जुवारी वेळया तस्कर अष्टाचारादिलोकीकिलोकोत्तरसदाचारपतिताः जातिवाह्याः पार्श्वस्यादयो देवद्रव्यादि-
भूषका वा : आदिशब्दावे नटनर्तकधूतन्याधसौनिकशीवरादिग्रहण । प्राकृतत्वादाकाङः । कुकर्मकारिणः संमागवर्द्धलानेकदःकृतकृत्य-
पासरजनानां । पाखडिनो वौद्वादयः । निहवा: श्रुतजीतोक्ताउष्टानकारित्वे मति स्नारसिकोत्तुत्रभाषिणः, प्रायः प्रतिगृहीतश्रीकारा-
द्रव्यसाधवः । एतेन लुंपाकसत्त्विकादयो निहवा नति सिद्धं । एपा च संमग्म संवामग्महोगालापसंलापप्रशंसादिरूपं संस्तवं श्रीचंद्रकृ-
मारवत् धार्मिकः सुश्राद्धादिसत्त्वजेत् । तद्यथा —

“ कुचस्थलपुरे प्रतापसिंहो गजा सूर्यवती राजी तयोः पुत्रः श्रीचंद्रकृमारो मिथ्याद्याचारनिदित्तकुलादिसंगतिरिहनः परोपकृ-
तिप्रवणः सुभगः श्रीअर्हद्भक्तो विशेषपूर्वो न्यायमतिदीनादिथेष्परायणः चंद्रकालादिभिः सह वैपविक भुजानो दोगुंदक इव
कालमतिवाहयति स । अन्यदा ए सन मायपरीक्षार्थं पित्रनान्तया दद्यांतरे श्रमन् वने कृतमदनन्दरीविवाहः क्रमेण सिद्धपुरं प्राप ।
तत्र श्रीकृष्णचेत्यचेतनार्थमागतः भवसौ तत्रत्यान् निःशक्कान् निर्धनान् नागगत् विलोक्य स्वप्रतीतया
देवद्रव्यविनाशशंकितमना देवलादीन पुरस्वद्वप् पृष्ठवाच । ततस्तेत्तु न हे श्रुभग पूर्वमिह महिमादभूते श्रीकृष्णभवत्सुखप्रानादे यात्रार्थ
सर्वदिग्भयः समागतेलोकेदेवभाडागारो वाद्वितस्ततः संवेगते तत्रत्यैः सर्वलोकैः संभूय तदद्वयं विभज्य गुहाद्वचित्विना व्यापार्य सर्व
नगरं सक्रमितरोगवदपाचितं । तेनेदं निःश्रीकतानिर्धनत्वदौमर्यद्युचित्तुलभतानिशक्तादिदोषदु जातं । अतलगातुभवः संशयादि-
दोपरहितो यथार्थतया प्रशंसनीयोऽस्ति । एवं श्रुतावुकंपितमनसा श्रीचंद्रण पुरश्चतुःपये चागल्य सर्वं दोपकारणं पौरवृद्धानामो

नियेदितं । यतः “ग्रासादो दृश्यते जीर्णः, प्रत्यनायपदं वर्णं । क्रणं सर्वम् भवन्यं ग्राग्, देवण्ठन्तव्यभाशुभ्यं ॥” उक्तं चारामे “सुखवणे देवदन्तव्यस्थ, परथीजपणेण य । सत्त्वम् नरयं जांति, सत्त्वारा ओ गोयसा ॥” ॥ ३ ॥ एवं सति युष्मामिन्धनत्वादि-
दोपवर्धकदेवक्षणानिवृत्तौ सोत्साहमूद्यमः कार्य एवेति । एवं श्रुत्वा केचिच्चाहिपाकभीतास्तद्वातुसारेण पूर्वसंचितं धनं सर्वं यमाधिकं
चैत्ये निश्चिरीकृत्य शेषधनहेतुकवृत्या सदृश्वन्ति पूर्वणपनीति च कुर्वतः मुखभाजः क्रमेणाभूवानिहासुत्रापीति । केचिच्चु प्रमादादेवम-
कुर्वतो बहुदुःखभाजोऽपीति । ततः सखीकः श्री चंद्रोऽपि दृष्टिताहारादिदुष्टं तत्पुरं सुरक्षया श्रामांतरे गत्वा शुरुवान् । ततः क्रमेणाने-
कराङ्गयसुखानि युक्तत्वा युक्तिमार्जिमाराध्य गुरुकिं जगामेति । श्रीचंद्रकेवलिचरित्रातुसारेण देवादिदन्यविनाशांकयापि तदगृहस्थं वृ-
नमात्रमपि आद्वादिभिर्न ग्राहं किं बहुतोक्तेति । एवं सति कदाचित्कुंडवाद्याभ्यगोन श्राद्धेन तावृण् आद्वगृहे भुक्तं
तदानिःशूक्लतापरिहारार्थं औजनातुसारेण वैत्यादौ स्तमाधिको निनक्कयो सोऽन्य एव । तथासति सुक्षमातिचारलेशोऽपि न
स्थादिति बोध्यं । यदाहुः प्रश्नोत्तरस्तुच्चये ४ प्रकारो श्रीहीरर्वचित्य द्विपादः । “तथा देवदन्यभक्षकगृहे जेमनाय गंतुं कलपते
नवेति ? गमने वा तज्जमननिक्यदन्यस्य देवगृहे मोक्षुचितं नवेति ?” अत्र मुख्यवृत्या तदगृहे भोक्तुं तैव कलपते यदि कदाचिच्च
तपश्चवतया जेमनाय याति तथापि मन ॥ सकृकृत्वं रक्षति न हु निःशुक्तो यवति जेमननिक्यदन्यस्य देवगृहमोचने हु विशेषो
भवति । ततस्तदाश्रित्य दशत्वं विलोक्यते यथाऽग्रेत्यर्थवृद्धिन् भवति तथा प्रवचत इति । एवं ज्ञानदव्यादावापि भावयं ; मुसाधुनापि
तच्छिरत्माहारादिकं न ग्राहं । यतः ” हृष्टकं पञ्चे । जिणादन्वक्खणं जो धरह, तस्म गेहंसि जो जिमह शट्टो । पावेण
परिलिपह, शिळंतोवि हु जई भिरहं ॥ अत्रेदं हार्द धर्मस्त्रहं । अत्रेदं हार्द धर्मस्त्रहं ॥

द्रुत्यसप्तिः
तम्हा सठवपथ्यतेण तं

वारश्राद्वादेम् धर्मयतिष्ठते तावत् श्राद्वादिसत्कर्त्ता सर्वधनादि देवादिसत्कर्त्ता सुविहैतव्यवहियते संसुष्टुत्वात् । यदाहुः यादुस्यमा-
डात्मये श्रीयतेश्वरस्त्रिपादाः ५ सों “ यथानेविपासंसगों, दुर्घे कांजिकसंगमः । तथात्मनो धनेतोचैः, संसगों गुरुसंपदः ।
॥ ३८ ॥ ” याऽक्षादिविपासंसगीत् तत्सहशं तथा अनाभोगादिना देवादिद्रव्यमंसगात् स्वकीयं भनं तत्सहशं भव-
तीत्यर्थः ? अतस्तद् द्रव्यं सञ्चकेन प्राणतिष्ठि नैव भोक्तव्यमागमनिष्टित्वात् । भोक्तव्यं च वक्ष्यमाणविधिना विवेकादिना शुद्धं
तदिति । साचेत्रिकोऽयं व्यवहारो मार्गानुसारित्वेन सिद्धः । एतेन “ संवत् १७४३ चर्पे वैशाख शुद्धी ३ दिने कोइए एम कहुँ जे
पहिलां देवद्रव्यवाचारितं है पछी तेहने परे संघ आहारादिक ग्रहे तेने दोप नहीं, जे माटे देवद्रव्य चाचरवानु आंतर पड़युँ छे. बीचु
वत्तेमानकाले देवके द्रव्ये आहारादिक नीपज्यो होय ते संघने न कल्पे तथा देवद्रव्यना वाचरनारे ज्यांसुधी संचाहेर
नथी काढयो ल्यांसुधी चतुर्विधसवने आहारादिक परिचय करतां दोप नथी ” इति पंचांगी परंपरा निहंडं वदन् पंडितमन्यः कशि-
द् इत्तः । एवं सत्यपि स्वप्रजादिलाभार्थं पाश्चस्थादीनां चानुष्टुत्या य उत्सवं भासते तस्य दुलभोधेहर्दीयं दर्शनमपि नोचितं मतां
संसारहेतुत्वात् । यदाहुः मूलशुद्धिप्रकरणे श्रीप्रथ्युम्भस्त्रयः “ परिवारपूयहेऽ, पास्तथाणं च आणुविच्चीए । जो न
कहेहिचिशुद्धं, तं दुल्धहयोहिअं जाणं ” ॥ १ ॥ आवद्यकभाष्येऽपि “ जे जिणवयणुतिं, वयां भासंति जेउ
मन्त्राति मममादिङ्गीणं तहं पापि मं रवुट्टिकं ” ॥ २ ॥ ॥ ४३ ॥
अथोपासंजिहीर्णग्राह—

तम्हा सठवपथ्यतेण तं • कृजा वि गो । जेणा धर्ममर रिंवसं तु, न करेह अवुहो जणो ॥ ४४ ॥

(टीका) तमहा सब्बेति—तमात् सर्वशाकला विवेकिभिस्तथा तथा यतिनन्दयं यथा यथाहृत् शामनस्य प्रशांसां वालोऽपि ततुते इति गाथार्थः । शासनप्रभावनायाश्च तीर्थकृत्त्वादिफलत्वात् । उक्तं च “अंगुष्ठनणगहणो, मुअमची चकयणे पभावणाया । एषहि कारणेहि, तिथ्यरते लहू जीवो ” तथा “भावना मोक्षदा तस्य, स्वान्ययोस्तु प्रभावनेति” । प्रभावना च स्वतीशोऽकातिहेतुचेष्टामु प्रवत्तनातिमकेतियावत् । इति समाप्तं पंचमद्वारम् ॥ ४४ ॥

अथालोचनया दोषशुद्धिमाह—

पवित्रय चाउममासिय, आलोअण णियमओ अ दोयठवा । गहणं अभिग्रहणाय, पुठवगाहिए पिंचेएओ ॥४५॥
(टीका) पवित्रयेति च शब्दात् वार्षिक्यादिकालोचनापि कार्या । आवद्यकनिर्युक्त्यतुसारेण पक्षाभंते पापभीरुणा गुरोः पुरतः सामान्यतोऽपि नियमादालोचना दातान्वयैव । ततः परं ग्रायः प्रतिकमणं कार्ये । तथा सति ग्रायश्चित्तविधिना शोऽयमानो भव्य आदर्य इवोजनलः शात् । अन्यथाऽतिकालवृच्छानेन रोगादिचतुर्षकवत् चर्द्दमानाः सुक्षमा अपि गुणव्याप्तिदेषा अप्रतिकार्यः स्युः यतः श्रूयते भगवत्यादौ “अनालोचिताप्रतिक्रांतकर्मणस्तुच्छमेव फलं लभंते” । अतो विशेषदोषसंभवसमये एवालोचनापूर्वं गुरुतः ग्रायश्चित्तं ग्रायमिति तत्त्वं ॥ ४६ ॥
वद्विधिश आद्यजीतकल्पपंचाशाकादेदृश्यते—
इत्थं पुण एस विही, अरिहो सुगुरुंसि दलहृअ कमेण । आसेवणाइणा खलु, सम्मं दृढवाइसुक्षस्त ॥४६॥
(टीका) इत्थं पुणएसेति—अनालोचनाया एष वक्ष्यमाणी विधिर्वैध्यस्तद् यथाह आलोचकः सुगुरो वेदोक्तगुणोचिते आलोचना-

चाये आलोचना ददाति, क्रमेणानुपूर्वीः, किंविधेन तेन आसेचनादिना, आदिगव्यात् आलोचनाक्रमेण आलोचनाक्रमण चेत्यर्थः; तथा सम्यक् यथाचत् आकुटिकादिभावप्रकाशनतः । तथा द्रव्यादिद्वयादिव्यत्यर्थः॥४०॥

इत्यस्मृतिकाण्डः

अथाहद्वारं विवृणोति—

संविग्नो उ अमाईः, मद्भूमं करपाठिओ अणासंस्ति । पपणाचणिज्ञो सहौ, आणायत्तो टुकडतात्री ॥ ४७ ॥
तातिवाहिसमूस्तगो खलु, अभिगगहासेचणाइलिङ्गजुओ । आलोअणापयाणे, जुग्नो भणिओ जिणंदेहि ॥४८॥

(टीका) संविग्नति तातिवाहिममूसेति—संविग्नः संसारपराज्यावत्यादेशालोचनाप्रदाने गोण्य इत्यर्थः तस्येव दुःकरणाकिणाद्यवसायित्वात् सुकरं चालोचनादानं । यदाह “अविराया च परद्वयं न यदुच्चरियं कहेति” १ । तथा अमायी—अशठः, मायाची हि यथावद् दुःकृतं वयतु न ग्रवनोति २ । मातिमान्—विवेकी तदन्यो हि आलोचनादिल्लापमेव न जानाति ३ । तथा कलपस्थितः—स्थविरादिकलपाचास्थितः अथवा श्राद्धसमाचारी व्यवस्थितः तदन्यस्य हि अतिचारविषया उपुष्येव न स्यात् ४ । अनायामाआचार्यायाधनांसारहितः, सांसारिकफलानपेक्षो चा, आसंशिनो हि समग्रातिचारालोचनाऽसंभवात् ५ प्रज्ञापनीयः—त्यक्तहठः गुरुपारंत्रयात् मुखावबोःयः, तदन्यो हि स्वाग्रहादकृत्यविषयात् निवर्तते ६ । श्राद्धः—श्राद्धालुः भ हि गुरुहक्तं श्रुद्धिश्रद्धेचे ७ । आज्ञायतः—आसोपदेशवच्चीं स हि प्रायोऽकृत्यं न करोत्येव ८ । दुःकृतेनातिचारासेवनेन तप्यते अनुतापं करोत्येवंशीलो

^१ दुःकरणाऽध्यवसायित्वात्—इत्यपिपाठ ॥

दुर्कृततापी, स एव हि यशाचत्तालोचयितुं शक्नोति ० । तद्विषयसुकृः—आलोचनविधितत्पर एव, स हि तद्विषय प्रत्येन परिहरति १० । तथा अभिग्रहसेचनादिभिर्व्यादिनियमविधानविधानप्रकृतिभिल्लैरालोचनायोग्य लक्षणेयुतः ॥ १२ ॥ इद्वा भव्य आलोचनाप्रदानयोग्योहर्ता भणिते जिनैरिति थाङ्कार्थः ॥ ४७-४८ ॥

अथालोचनागुरुद्वारं विवृणोति—

आयारच मोहरन, वनवहरु ठवीलए पकुठवीआ । अपरिस्तानी निजन, अचायदंसी गुरु भणिओ ॥ ४९ ॥ (टीका) आयारेति—आचारचानु ज्ञानासेवायां ज्ञानाद्याचारयुक्तः अयं हि गुणितवेन अद्वेयचाक्यो भवति १ । तथा अवधारचानु आलोचकोक्तापराधानामव्याखाणं तद्वान् अयं हि सर्वपराधानां यथावद्यारणाममयो भवति २ । तथा व्यवहारचानु आगमशुल्तज्ञाधारणा-जीतव्यवहारान्यतरयुक्तः स च यथानु शुद्धिकरणसमयो भवति, संप्रति पंचमो मुख्यः ३ । तथा अपत्रीडयति लज्जयातिचारान् गोपायंतपुदेचविशेषविगतलज्जं करोतीत्यपत्रीडकः, अयं हालोक त्यंतमुक्तकारको भवति । आलोचितातिचारणं प्रायश्चित्तप्रादानेन शुद्धिप्रकर्षेण कारय तीत्येवंशीलः प्रज्ञन्नी, आचारचनादिगुणयुक्तोऽपि काश्चित् शुद्धिदान नाभ्युपगच्छतीत्येतद्व्यवच्छंददायं प्रकुर्वीत्युक्तं ५ । तथा न परिश्ववति आलोचकोक्तमकृत्यमन्यस्मै न निवेदयतीत्येवंशीलोऽपरिश्रान्ति, तदन्यो हि आलोचकानां लाघवकारी स्यात् ६ । निजवचान्ति—निर्यापयति निर्याहयतीति निर्यापकः यो यथासमर्थस्य तथा ग्रायश्चित्तं दत्ते इत्यर्थः ७ । तथाऽपायान् दुर्भिक्षदुर्बलत्वादिकानेहि काननथर्थान् पदयति अथवा दुर्बलबोधिकत्वादिकान् अपायान् साति चारणां दर्शयतीत्येवंशीलोपायदशी, अत एवायमालोचकस्योपकारी ८ । उपलक्षणात् गीताथत्वपरोपकारोद्यतत्वाद्वापकत्वामायित्वादीनामन्वेपामपि यानां ग्रहः । तत्राधिगतिशी-

द्रुत्यसप्त-
तिकावृत्ति:

॥ ४२ ॥

यादिद्गुरुतथारितं गीतार्थंचं आचारसामिगतादिभिन्नशायकत्वमिति । एवमादिगुणे: प्रायविचारदानाहौं गुरुभैषिणो जिनैः । एवु आचारस्थादिगुणा आलोचनागुरुपलक्षणं तेन शुद्धिदायकत्वे मति गीतार्थतं च तल्लक्षणं संपन्नं । तेन पार्श्वस्थादयोऽपि तदगुरुत्वेन लक्ष्याः स्मृतः प्राय उक्तगुणकलापशून्यो हि न शुद्धिकरणाशास्त्रं, एव मति जयन्त्यतः एवमादिगुणः, उक्तकष्टतः पद्मिन्निगदादिगुणो गुरुबोध्य इति तत्त्वम् ॥ ४९ ॥ अथालोचनाचार्यमुत्सर्गपचादाभ्यामाह—

आयरियाइ सगच्छेत्, संभोइ अ इअर गीयपासहथो । सारुच्चा पच्छुताकड, देवय पडिमा अरिह सिद्धो ॥५०॥ [टीका] आयरिया इति—साधुना श्रोदेन वा नियमतः प्रथमं खगच्छे आचार्यस्य, एवं ब्रवर्तिनः स्थविरस्य गणाचच्छेदिनो वा पुरत आलोचनीयं । एवं तदभावे सांभोगिके एकसामाचारीके गच्छांतरे आचार्यादिकमेणालोच्यं । तेपासप्यभावे इतरं सिद्धमां भोगिके संविगगच्छे म एव क्रमः । तेपासप्यभावे गीतार्थमारुपिकस्य पूरतः, तदभावे गीतार्थपश्चात्कृतस्य पुरु आलोच्यं । अत्र मारुपिकः शुल्कांचरो मुडो अवद्धकच्छो रजोहरणरहितोऽव्रह्मचयोऽभायो मिक्षाप्राही, सिद्धपुत्रस्तु सशिखः सभायः, पश्चात्कृतस्तु लक्षचारित्रवेषो गृहस्थः । ततः पार्श्वस्थादेवैपि गुरुवद्दंदनादिविधिः कार्यो विनयं मूलत्वाद्यर्थस । यदि तु पार्श्वस्थादिः स्वं हीनपूर्णं पञ्चयन्व चंदन कारयति तदा तस्य निपद्यामारचन्य प्रणाममात्रं कुचालोच्यं । पश्चात्कृतस्य चेत्यसामायिकारोपणं लिङ्गप्रदानं च कृत्वा यथाविध्यालोच्यं । पार्श्वस्थादेनामयभावे यत्र राजगृहादिसलक्गुणविलादौ श्याने अर्हद-गणघावैवहुशो दत्तं प्रायश्चित्तं यया देवतया दृष्टं तत्र त ॥: सम्यग्देवरुपमाद्याराघवेन प्रलक्षायाः पुर आलोच्यः । जातु सा च्युतान्योत्पन्ना तदा महाविदेहादावहतं पृष्ठा प्रायश्चित्तं दत्ते । तदयोगेऽहतप्रतिमानां पुर आलोच्यं यं प्रायश्चित्तं प्रतिपद्यते । तासामयोगे

पूर्वोत्तरशिष्योऽहतसिद्धसमक्षमध्यालोचयेत् । व्यवहारेण्येतदर्थसंचार्दी पाठः स्पष्ट पव । तद्यथा । “ जर्थेव सम्मभाविआईं
चेइआइ पासेजा कपणसे तसंस्तिए आलोहतए जाचपडिवज्जितएवेति । ” यत्र सम्यग्भावितानि सम्यग्दृष्टिभावितानि यथागममात्रं
कारितानि प्रतिष्ठितानि च विधिचेत्यानि पश्येत् तेषां पुर आलोचय । नतु सर्वपश्चिमादिनीश्रवानां अविधिचेत्यानामाज्ञातिकमादिदो-
पसंभवात् अनायतनत्वाच्च । यटुकं हरिभद्रस्तुरिकृतसमयत्वकुलके । अहिगारिणो असट्टो, चाचणकुमणग कुमहरहिउ । तेषां
कारअब्बं, जिणभुवणं वंदणिज्जमिणं ॥ १४ ॥ निष्फाविज्ञेण एवं, जिणभुवणं चुंदरं तहिं चिंबं । विहिकारिअं च विहिआ, सुपहटा
साहुणो मणा ॥ १९ ॥ ” व्यवहारभावेऽपि ॥ “ आगमविहिणा कारिय, सुगुरुवरसे सुसावगेहिं च । नायज्जिअ वित्तेण, तं
आययणं जिणा विति ॥ २१ ॥ सन्ताणचरणदसण, प्रमुक साहुहिं जा परिजगहिआ । ताओ जिणपाहिमाओ, अणाययणं हुन्ति ऊन्तिए
॥ २० ॥ जिणाविज्ञेयणं, कुसहु परतंतया समुद्दिडु । दिउंतो जिणपडिमा बोहिय लिंगाहयण इह ॥ २१ ॥ अणाययण पुण-
नाणं, दंसणचरणगुणायणं ठाणं । मुखघुहिथ सुधामिज्ञण, वज्जणिज्जं विसुद्ध भावेण ॥ २२ ॥ ” पुष्टालंबने तु तदपिवंदनीयमेव ।
यटुकं बृहङ्गाठये “ असह विहिचेइआमि, सद्गामगाह कारणं नाळं । वर्चान्ति तथ्य मुणिणो, नो मुणिणो जे अगीयथा १ । ” अत
एव “ मो भो पिअवए जहवि जिणालए तहवि सावज्ञामिणमित्यादि । ” सहानिशीथ पंचमाध्ययनवचनात् सुविहिताग्राणी-
श्रीकृचलयप्रभस्तुरिणा चैत्योद्भारविधानोपदेशो न दत्तोऽविधिरूपमित्यात्वहृद्यापत्तेति । सांप्रतं तु जीतेनान्यतीर्थीयज्यो-

अत्र विशेषः पर्वतिं जलपतो बोद्ध्य इति दिक् । किंचित्र पाञ्चरथादीनामपि गीताथर्वनामेव पुर आलोचयं न तु संविश्वस्तु
स्थापयगीनार्थस्य पुरः । यतः “आग्नीयो न वि जाणः, सोहि चरणस्स देह उणहिअं । तो अप्याणं आलोअं च पाडेह संसारे ॥
२ ॥” अत एव गीताथस्य दुर्लभत्वे कालतो द्वादशवर्णाणि क्षेत्रतः सप्तयोजनशतानि तद्वेष्यागमे श्रयते, एवमालोचनापरिणतोऽपि
समाराघको भवति निःशल्यत्वात् । यतः “आलोअणा परिणउ सम्मं संपर्थिओ शुरुसगासे । जह अंतरावि काल, करिज्ज आगहओ
तहवि ॥ १ ॥” अतः प्रतिकमणेऽपि पूर्वं विशुद्धिमूलं भावालोचनेव प्रवर्तते इत्यपि सिद्धम् ॥ ५० ॥

अथालोचनकमदारं प्रकाशयति—

दुविहेणाणुलोमेणं, आसेवणाणुलोमं, जं जह आसेविअं विअडे ॥ ५१ ॥
आलोअणाणुलोमं, शुरुगवराहे उ पच्छाओ नियडे । पणगाइणाकमेणं, जह जह पच्छित्तवुहीओ ॥ ५२ ॥
(टीका) दुविहेति । आलोयणा इति । द्विप्रकारेणाणुलोमेन कमेणालोचनां ददातीत्यर्थः । तत्र तदासेननाणुलोमं स्यात् यत्
येन कमेणासेवितं विकटयेत् प्रकाशयेत् आलोचकः । युनत्स्त आलोचनाणुलोमं यत्पश्चात् लक्ष्यपराधानंतरं गुनकापराधान् विकटयेत्
आलोचयेत् कथं त्याह ‘पणगा’ इति । पंचकदग्धप्रभृतिना कमेण प्रायश्चित्तवृद्धिर्यथा स्यात्तथा विकटयेत् । ग्रन्थतामिह च लयावतीचारे
पंचकं नाम ग्रायश्चित्तं । शुरुके तु दण्कं । शुरुतरं तु पञ्चदशमित्येवमादीनि । अत्र गीतार्थं आलोचनाणुलोमेणेवालोचयति कारणं
तु गीतार्थगम्यं । हतरस्तु आसेवनाणुलोमेनालोचनाणुलोम्यनानिभित्तत्वात् । तस्य चैवमेवातिचारणा सुस्परत्वमिति ॥ ५२ ॥

सम्यगद्वारं विवृणोति—

इत्यस्तः
सिद्धार्थः
॥ ४५ ॥

तह आउहि अदप्पमाय, कप्पा तहा य जयणाए । कजे संभव हेउं, जहुहि अं सठवमालोए ॥ ५३ ॥
(टीका) तह आउहि एति । तथाशब्दो यथाक्रमे । आकुहिको पैत्यकरणं, दपो वलगनादिः, प्रमादो मद्यादिः: स्मृतिं गादिर्वा,
एव्यस्तथाकल्पतो नाऽशिवादिपुष्टालंघनतो च । कलपश्च यतनादिविषय इत्यत आह यतनया यथाशार्किं संवरक्षालूपदिया, काये
संचादिप्रयोजने, तथा संभ्रमहेतौ प्रदीपनकादौ अयतनया अनपेक्षितसंयमरक्षया च यदासेवितं तदिति गमयं । यथास्थितं सर्वमालोच-
येत् गुरुण्यो निवेदयेद्विशुद्धिकमो नतु लज्जादिना किंचिहु गोपयति, निःशब्दव्यवनाशाधकत्वात् । यतः ‘लज्जाइगारवेण, वहुस्तु अमण्ण
चा वि दुचरियं । जो न कहेहु गुरुण्, नहु सो आरहगो भणिओ ॥ ? ॥ गारवेणति रसादिगारचप्रतिबद्धत्वेन तपोऽचिकीर्पत्येत्यर्थः
॥ ५३ ॥ अथ इन्यादिशुद्धिकलमाह—

दठवाईसु सुहेसु, देया आलोअणा जओ तेसु । हुंति सुहभावदुही, पाएसुसहाओ सुहहेउं ॥ ५४ ॥

अथ दृव्यादिशुद्धिविष्णवचाह—
दठवे खीरुहमाई, जिणभुवणाई आ हुंति खिर्तमि । पुणणति हो पभिह काले, सुहोवउगाई भावेसु ॥ ५५ ॥
(टीका) दवेति । सुगमा । नवरं क्षीरहमो न्यग्रोधादिः । आदिशब्दात् चंपकाशोकमहकारादिग्रहः, जिन्नुवनादि (दिः) आदिय-
वदादत्यदपि शुभक्षेत्रं । आह “ उत्थुवो सालिवणे, चेहरे चेव होहु शिरंतमि । गंभीरसाशुणाए, पयाहिणावत्तेऽ उदगे ॥ ? ॥ ”
पूर्णप्रभृति तिथिकाले रिक्तापषट्ठीति यो नियमाकालोचनेति । शुभोपयोगादी (दिरि) ल्यग्रादिशब्दाच्चिमितशाह्रगतशुभमावपरि-
ग्रहः । एवंतद्विधिता गुरुमालिक्ष्येव गुरुदिः कायेति परमार्थः ॥ ५५ ॥ विष्णे दोपमाह—

आलोअणं च दाउं, ईचि अणणे तहटपणो दाउं । जे वि हु करंति सोहिं, तेवि ससळ्हा चिणिहिटा ॥५६॥

(टीका) सत्यपि आलोचनाचार्ये स्वबुद्धया शुद्धौ कृतायामपि सशालयता स्वदिमन्त्रेव चर्तीते इत्यर्थः । एतेन परमङ्गावे परमेव पुरः तां यच्छुभूत्यतीति सिद्धं । यदाह । “ उत्तीमशुणसम्पन्ना, गणेण तेण अवस्स कायन्वा । परस्तिवया चिसोही मुहु वयहारकुरालेण ॥ २ ॥ ” पराभावे तु आत्मनोऽपि आलोचनां यच्छुभूत्यति केवलं सिद्धान् साक्षीकृत्येति । न चात्र भावालो-चनयेव विशुद्धिसंभवे गुरीदि साक्षिका सा व्येष्यति चान्यं तत्साक्षिकत्वे धर्मप्रतिपत्तौ विशेषगुणोक्तर्पिलाभाव । यदाहुः । आवक्षप-जप्तौ हरि-भद्रस्त्रिपादाः । “ संतंमिवि परिणामि, गुरुमूलपचक्षणंमि एमगुणो । दद्या आणकरणं कम्मखओवसम बुद्धीय ॥ ३ ॥ ” गुरुमास्तिवयोल्लासात् । “ गुरुमास्तिवयोल्लासात् । शंकापनोदेन विशिष्टतिर्णयोल्लासात् । ” गुरुमास्तिवयोल्लासात् । शंकापनोदेन विशिष्टतिर्णयोल्लासात् । इति चननात् जिनाज्ञाराधनं उत्साहातुर्वलगुरुपदेशोऽकृतशुभाष्यादधिकः श्रयोपग्रामः तस्माच्चार्थाधिकाज्ञाप्रतितिर्णयोल्लासात् । चान्येऽपि नियमाः प्रयोगुरुमास्तिवयोल्लासात् । यतः शाशुक्त्रयमाहात्मये द्वितीयसंगे । “ क्रियाः सर्वाः प्रवर्द्धते, गुरो साक्षिणि समुचितेव चोइया ॥ ५६ ॥ ” अत एव प्रतिक्रमणांगतेऽपि कृतकार्यनिवेदनरूपालोचना च आलोचनागुणानाह—

आलहादिजणाण, अप्परनिवित्त तह अजावं सोही । उक्तरकरणं आणा, निस्सलहातं च सोहिगुणा ॥५७॥ दुः (टी) लहुआ इति । यथा भावावाहिनो भारेऽपहते लघुता तथा शल्योद्धारे आलोचकसापि १ । आलहादिजनतं प्रमोदोत्पादः २ । आत्मपरयोदोषेभ्यो निष्पत्तिशलोचने हि स्व दोष निष्पत्तिः ग्रतीता तत् द्वाग्नेऽप्यालोचनाभिमुखाः स्मृतिलन्त्येपामपि दोषेभ्यो

निवृत्तिः स्थात् ३ । आर्जवं निर्माणयता समयगालोचनात् ४ । शोधिः शुद्धताऽती चारमलापगमात् ५ । दुःकरकरणं दुःकरकारिता, तरो
यत्प्रतिसेवनं तत्क्र दुःकरमनादिभवाभ्यस्तत्त्वात्, यत्पुनरगालोचयति तत् दुःकरं प्रबलमोक्षानुयायिवीयोह्लासदिशेषेणेतस्य कर्त्तुं शाक्य-
त्त्वात्, अत एवाभ्यंतरतपोरुपं समयगालोचनं मासक्षपणादिभ्यो दुःकरं ६ । तथा आज्ञा तीर्थकृतामाराधिता स्थात् ७ । निःशब्दत्वं
इपदं । उक्तं चैकोनविश्वदुराध्ययने । आलोअणायणं मायानियणमिछादंसामल्लाणं मुख्यसमग्रविग्रहाणं अणंतसंसामरवहुणाणं उद्धरणं
करोह । उज्जुभावंचणं जणह । उज्जुभावपडिवेणं जीवेऽमाई इत्थीवेअं नमुसगवेअं च न वधह । पुनवबद्धंचण निज्जरहिति ८ ॥५७॥

एवं शुद्धै सत्यमालोचकस्य गलयधातचिकित्सासेव विशेषशुद्धिमूलसूचरीकरणात्मकं प्रायश्चित्तविधि दर्शयति । प्रथमं गुरुद्वन्य-
परिभोगप्रायश्चित्तमाह—

मुहपत्तिआसणाईसु, भिन्न जलज्ञाईसु गुरुलहुगाह । जडदठवभोगि इय युण । वत्थाइसु देवदठवं व ॥५८॥
(टीका) मुहपत्तिति । गुरुरात्के मुखपोतिकामनादौ भुक्ते भिन्न लिर्विकृतिं । गुरुसत्के जले भुक्ते १, वत्थादौ
(अन्ने भुक्ते २ वत्थादौ च ४) । विक्रमाकर्णदिना पूजाध्यैव निश्राकृतकनकादौ गुरुदठ्ये भुक्ते ६, तथा वत्थादौ इयान् वियेषः यत्र
गुरुदठ्य भुक्तं तत्रान्त्यन्न वा साधुकार्य वैद्यार्थं वंदिग्रहान्नापद्माराथं वा तावनिमतवत्त्वादिप्रदानपूर्वं प्रायाश्चित्तं देयमिति भावः ॥५९॥

अथ साधारणादिविषयं प्रायश्चित्तमाह—

साहारण जिणदठवं जं भुक्तं असणावत्थकणगाई । तत्थाऽन्नत्वं व दिने चउलहुचउगुरु अ छ्लहुगा ॥५९॥

(टीका) ताहरेति । साधारणदन्वं जिनदन्वं च याचन्मात्रं व्यापारितं स्वकार्यं स्वात् । किंतदित्याह । अशनं नैवयं, वहं परिधापनिकादिः, कनकरूप्यमौक्तिकादिः; कनकरूप्यमौक्तिकादिः; तस्मिन् तावन्मात्रे जिनदन्वे साधारणदन्वं च तस्मिन्नन्यस्सिन् वा चेत्यादौ देत्त सति जदन्यादिक्रमेण चतुर्लघुं चतुर्लघुं पृथग्दन्वं प्रायश्चित्त भवति । इति आद्यजीतकल्पानुसारेण प्रमादहेतुकं प्रायश्चित्तं दर्शितं । एव माकुट्वा चोक्तं द्विगुणं, दर्पणं त्रिगुणं बोध्यं । तथा द्रव्यमपि जघन्यत वन्मात्रमुचितपदे व्ययितव्यं । उत्कर्षपतस्तु तद्वर्गितादिकं चेति । किंच जातु व्यापारादिना देवादिदन्वय स्वधनेन संपूर्कं जातं तदा तद्विवेकप्रायश्चितेन शोधयित्वा सिद्धपुरीयशास्त्रद्वन्वत् चेत्यादौ समाधिकं मोच्यं । भ (भु) कं तु तत् स्वधनेनोपादर्थं पूर्वविधिना तत्र व्ययितव्यं तपः कार्यं च येन तद्विवेकतं निर्धनत्वात् दातुं न शक्यते तेनापि स्वधनानुसारेण इत्वरकालावधिकमेण च चेत्यादिकं सत्कृत्यता यथावत् गीतार्थदत्तं तपः कार्यं । यतः गुरुदेवनार्थचौरोऽत्र, व्यर्थयत्वर्थयन् जिनं । वृजिनं स्वस्य सद्व्यान-पात्रदानपरायणः॥४॥” निकाचितमपि दुःकर्मसद्व्यानसामङ्गर्वित शिथिलीभवतीति स्थिरतिः । तथाज्ञाभगातिक्रमव्यतिक्रमादौ प्रायश्चित्तचिह्नेरपविश्वरो नयवहारभावयादिव्योवसेयः । माधुनामितद्वाजिगृहिदत्तदेवभुत्तिक्रहाराभूतदोपसंभवेन तयेच जीतानुसारेण प्रायश्चित्तचिह्नौ यतनीयं । अन्यथा पूर्वोक्तविधिना कुलपरंपरं दोपमालिन्यं प्रवत्तते । यदुक्तं शानुक्त्यमाहत्यन्ये “देवदन्वं गुरुदन्वं, देवदाससमं कुलं । अंगालमिव तत्सुद, युद्यते नहि धीमतां ॥५॥” देवादिदन्वयमविधिना व्यापारितं सत् आससमं कुलं अभिव्याप्य दहेत् । निर्धनत्वादिना निःसारं करोति । “सत्तद्व्युपरम्परा कुशीलेति । उपलक्षणतो यावत् तत्प्रतीकादीदासीनं तावत् दोषशुद्धिनि निःशक्तवादित्यर्थः । अतोऽग्नालवत् कुङ्डबादिधियापि तयोः संसर्गो विवेकिना परिहार्य एवेत्यर्थः । एतेन येन देवदन्वयादि विनाशितं तस्येव दोषसंभवो नान्यस्येतयपि वदन्तो निरस्ता । इति प्रायश्चित्तद्वारं समाप्तम् ॥५९॥

अथो विधिनालिंतं दुःकर्म ग्रामश्चित्तविधिना भवांतरेऽपि क्षीयते इति उत्सामर्थ्यदर्शनेन भव्यानामुत्साहवृद्ध्यर्थं संकाशादिद्व-
षांतानाह—तवेदं देवद्रव्यविनाशोऽहृतः कर्मक्षयार्थं सिद्धपुरीयशाद्विनिर्देशनमुक्तपूर्वं बोऽध्यं । भवांतरे च तत्कर्मक्षयार्थं सं शहस्रान्तो यथा—
पमायर्ण् दोसेण, ति परिछ्छा जहा हूं । पन्तं संगाससहुण, तहा गोचि पाविही ॥ ६० ॥
संकास गंधिलावह, च रंभि चेहए वि । चेहयद्वतुठवयोगी, पमायओ मर संसारे ॥ ६१ ॥
(टीका) पमायेति । संकासेति—संकाशो नाम आवकः भावादेव भवेत्तरायवान् । यथोदितश्राद्वाचारनिरचयवहारे गंधिला-
वत्यां पुरि वसन् श वतारे चैत्ये प्रशस्तचेताश्चितां चकार । अन्यदा कथमपि गृहव्यापारव्याक्षेपादिना चैत्यद्रव्योपजीवको जातः ।
ततोऽसौ यावज्जीवमनलोचिताप्रतिक्रांतकर्मा मरणं एय संसारे पूर्वो दुःखपरंपराभाग् संखयेयान् दुर्भवान् आंतः ॥ ६०—६१ ॥

ततः—

तगराए इङ्भमुगे, जाओ तं कम से याउआ । दारिद्रमसंपत्ती, यु गे पुणो चि निघे औ ॥ ६२ ॥
केवलिजोगे युछ्छा, कहे बोही तहेव संवेओ । किं इथमुच्चिअमिलि, चेहयद्रव्य बुहिति ॥ ६३ ॥
(टीका) तगराएति । केवलियोगेति—पूर्वं तद्वनविनाशे तत्कालोपार्जितलाभांतरायामुदयात् तवानापि धनादिरीधः, सांप्रतं
तद्वद्वौ तवापि तथैव । याहरां चोप्यते चीजं ताहरां लभते कलमि श्रः ॥ ६२—६३ ॥
अथ तद्विधिमाह—

द्रव्यसं-
तिकारुचिः
॥ ५० ॥

गा शायणमित्तं, मुत्तं जं विचि उज्ज तं ठवं । चेह्यदृठं नेयं, अभि गहो जावजीवाए ॥ ६४ ॥
(टीका) गासल्लायणोति । खगुहनिवाहितिरिक्तवे सति उचितव्यापारोपाजितं शेषधनं देवसत्कर्मेवेति, यावज्जीवामिग्रहात्मकं
प्रायश्चितं प्र पव्वं ॥ ६४ ॥ अथ तत्फलमाह—

सुहभावपवित्रीष्ट, संपत्ती भिगग्हंसि निच्छलया । चेह्हरेकारावण, तत्थ सया भोग परिसुच्छी ॥ ६५ ॥

(टीका) सुह भावेति । तस्यैव महात्मनो गृहीतमहामिग्रहस्य मभावप्रवृत्तितोऽतीवैत्यदृव्यविवृत्सावशादुल्लुमदिशिष्टाक्षयोदयाच्च लाभांतरायश्योपशमस्तस्माच्च संप्रति प्रभूततरविष्वृतिसंप्राप्तिलस्यां सत्यामपि अभिग्रहे निश्चलता-निजमनोहडता, अतस्तस्य नाधिकत इव्यविष्ये स्वमांतरेऽप्यादाहुकामितेत्यर्थः । ततः क्रमेण तस्यामेव नगर्या तेन चैत्यं विहितं । तत्र सदा भोगपरिशुद्धिः । चैत्यविधापने सदाभोगः शास्त्रप्रतन्त्री विमर्शस्तपूर्वं भूम्यादेः समंतावृ शोधनं । यद्वा तत्र चैत्यविधापने निपदनादौ क्रियमाणोऽपि सदा नित्यं भोगः आशातनापरिहार इत्यर्थः । अत्र चैत्यविधापनविधिः आशातना च पंचाशकपोडकादिभ्यो बोहया ॥ ६५ ॥

अथोपसंहारमाह—

इय स्मो महाएुभावो, सठवत्थविं अविहिभावचापणं । चरितं विसुद्धधर्मम्, अव्यवृत्तिआराहओ जाओ ॥ ६६ ॥
(टीका) इयसोमेति-इत्येवं उक्तनीत्या संकाशजीवो महातुभावः । वर्द्धमानसद्यवसायविशेषात् समुद्यादितपुण्यप्रभावः, उद्धर्चनादिना पूण्यप्रकृतेरुपचयः, अपवर्त्तनादिना पापप्रकृतेरपचयश्चेति भावः । सर्वधर्मकृतयेऽपविधभावत्यागेनात्रुचितप्रवृत्तिरोधेन

पञ्चद्वारम्
॥ ५० ॥

कर्मसारपू-
ष्यसारयो-
निदेशनम्
॥ ५१ ॥

विसुद्धथर्मं श्रुतचारित्रलक्षणमाराइ अस्वालिताराथकः-निर्णसाधको जातसाद्वितात्रुदानकारीत्यर्थः ॥ ६६ ॥
संकासोचि विभित्तुणं, कर्मगंठि सुनिवृडुडो । जाहिही सो उ निडवाणं, महासत्तो न संसओ ॥ ६७ ॥
(टीका) संकासोचिति । ततः संकांशोऽपि कालक्रमेण समूलमोहमुच्चित्य महासत्तः संतोसुधासिकमनोधृतिः; सुनिवृत्तः संयमर-
ततवेन प्रक्रियास्वादकत्वात् जीवनमुक्त इत्यर्थः । यदाहुः “निर्जितमदमदनानां वाक्यायमनोचिकाररहितानां । विनिवृ-
त्तापराशानामिहेवमोक्षः सुविहितानामिति ॥ २ ॥ निर्वाणं गमिष्यति । एवं ज्ञानसाधारण (द्रव्य) विनाशोऽप्युक्तविधिना दुःकर्म-
क्षयदर्शनार्थं कर्मसारपृण्यसारयोनिदर्शनं यथा—

“ भोगपुरे चतुर्विंशतिकर्तनकफोटीस्वामी धनाचवहश्रेष्ठी, पत्नी धनचती, तथेर्घमलजाती कर्मसारपृण्यसारारो सुती ।
अष्टमे वर्षे विज्ञोपाध्यायस्व पाँश्च पठनाय तस्थुः । पुण्यसारः सुखेन सर्वविद्या अधीतवान् कर्मसारस्य तु बहूपक्रमेणात्यक्षर-
मात्रं नायाति, वाचनलिखनादौ तु किं वाच्यं । ततः पशुप्रायत्वात् तस्य पाठकेनापि पाठनं मुक्तं, क्रमेण द्वावपि यौवनस्थो
पितृभ्यां समुद्भृतया सुलभे महेभ्यकन्त्ये सोत्सवं परिणायिते । मा मिथः कलहयेतामिति द्वावपि च द्वादश द्वादश कर्तनककोटीदत्तवा
पृथक् कृती, पितरौ तो प्रत्रज्य स्वर्गतो अथ कर्मसारः स्वजनादिभिर्विर्यमाणोऽपि कुतुद्रव्या तथा वाणिज्यं कुरुते यथा अर्थहानिरेव
स्वात् । एवं स्वल्पैरेव दिनैर्जनकार्पितद्वादशकोटयो गमिताः पुण्यसारस्य तु द्वादशकोटयः खात्रं दत्त्वा तस्करेगृहीताः । तेनो-
भावपि दरिद्रौ जाती । त्यक्तौ च स्वजनादिभिः भायै अपि पितृशुंहं गते । ततो निर्वृद्धी निर्भाग्याविति लोकैदत्तापमानौ लज्जमानौ
गत्वा देशांतरं स्थितौ च पृथक् पृथक् महेभ्यगृहे । तत्राएवन्योपायाभावाद् भूत्यवृत्तया यस्य गृहे कर्मसारः स्थितः सोऽपि कृपणत्वात्

कर्मसारणु-
प्रयसारये-
निदर्शनम्
॥ ५२ ॥

तस्मै ग्रोकं वेतनमपि न दर्ते । मुहुर्मुहुस्त चंचयते । इतो बहुभिर्देनराघ्येन किमपि नार्जिंतं द्वितीयेन किमपि नार्जिंतं परं तत्प्रयत्नगोपि-
तमपि धूर्तेनापहरतं । एवमन्यान्यस्थानेषु भूर्यवृत्रया धातुर्वादखनिवादसिद्धरसायनरोहणादिगमनंत्रसाध्यनस्त्रुदत्यादीपाध्यग्रहणादिना ।
चैकादशवाराण् महोपकमकरणेऽपि कुबुद्धया न्यायैपरीत्यविधानादाघेन कापि धानं नार्जिंतं । किंतु तत्र दुःखान्येव सोढानि । अपरेण
पुनरजितमपि प्रमादादिनेकादशवाराण् गमितं । ततोऽत्युद्विग्नौ तौ पोतमाल्य इतन्द्वीपं गत्वा सप्रत्ययरत्नद्वीपदेव्यत्र मृत्युमध्यगीकृत्य
निविष्टौ । ततोऽस्मे उपवासे नास्ति युवयोमार्यमित्युक्त्वा देव्या तिरोदये । ततः कर्मसार उलिथतः पुण्यस्तारस्य त्वैकविंशत्यो-
पवासैः तथा चित्तारत्नं दत्तं । कर्मसाराः पश्चात्तापं कुर्वन् पुण्यसारेणोक्तो है वंधो मा विपीद एताच्चित्तारत्नेन तवापि चिंतिते
सेत्यति । ततो द्वानपि ग्रीतौ क्रमात्पोतमारुद्दौ । रात्रौ च राकाशशांकोदये वृद्धेनेकं आतः स्फुटीकृह चिंतारत्नं विलोक्यते, तस्य
चंद्रस्य चायिकं तेज इति । ततो लघुनापि पोतात्स्थेन दुर्देवप्रेरितेन रत्नं हस्ते नीत्वा क्षणं रत्ने क्षणं चंद्रे च वृष्टि निदधता मनो
रथेन सह मध्येऽस्मितु तत्पातिं । ततो द्वावपि समदुःखौ स्वपुरं प्राय ज्ञानिग्रं ख्यानप्रमाणाणां । ज्ञानी प्राह—“चंद्रपुरे ज्ञानदत्त-
ज्ञिनदास्त्रेष्टिनौ परमार्हतावभूतां । अन्यदा तत्रत्यश्रावैकः संभूय ज्ञानदत्तं साधारणदत्य च तरोः उच्चमत्यादीपितं रक्षाये ।
अन्येष्टुराघ्येन स्तुपुस्तिकायामतिविलोक्यमानलेख्यकेन मासदेव्यतया द्रामान् निर्णीय पर्श्च त्वपरद्रव्याभावादिदमपि ज्ञानस्थानमेवेति
चिंत्य च ज्ञानदत्याद् द्वादशद्रामा लेखकस्यापिता: । द्वितीयेन तु साधारणदत्यं सप्तक्षेत्रीयोर्यत्वेन श्राद्धानामपि योग्यमिति
विमुख्य साधारणदत्याद् द्वादशद्रामाः स्वगृहगाढप्रयोजने अन्यद्रव्याभावादत्ययिताः । ततो मृत्या दुःक्रमणा प्रथमनरकं गती । ततो
देवद्रव्यभक्षकस्तागरञ्छेष्टिवत् सर्वत्र नरकएकंदियदिवित्रिचतुःपंचेदियदिवित्रिचतुः च द्वादशसहस्रवाराण् भूयस्तरदुःखमतुभ्य श्वीणदुःक-

सप-
तिष्ठाति:
॥ ५२ ॥

देवगुरुलङ्घ्य
विनाशि
महाकाल
हस्तांतो
॥ ५६ ॥

मणी युधं जातौ । पूर्वकर्मणा अस्ति भवेऽपि द्वादशकोटिर्गमिता । एवं तद्वचः श्रुत्वा द्वाख्यां श्राद्धयर्थं प्रपथ्य 'ग्रायश्चितपदे सह-
स्रगुणा द्वादशद्वामा: व्यापारादौ यावदुपत्स्यन्ते तावत् ते ज्ञानसाधारणपदे एवापणीयाः । ततः परमुपत्नं धर्मं स्वनिश्रितं कार्यं' इति
नियमो जग्नुहे । ततो द्वावपि ग्राकर्मक्षयाद्बृन्दवद्विंश्च प्राप्य तन्मध्यादुभयपदे सहस्रणं देयं समर्प्य च क्रमाद् द्वादशकोटिभाजावभूतां
ततो महेश्वरी तौ सुश्रावकतया सम्यग् ज्ञानसाधारणद्वयरक्षा तदुत्सपणादिना श्राद्धयर्मसाराभ्य प्रब्रज्य च सिद्धो इति ॥

अथ देवगुरुद्वयविनाशे महाकालहस्तांतो यथा—अतीतोत्सर्पिण्यस्तुयरके श्री संप्रत्यर्दद्वारके श्रीपुरुषे नगरे शांतनो त्रुपरी
राज्यं चकार । तस्य राज्ञी सुशीला, तयात्यदा चत्वारः पुत्राः क्रमेण नीलमहानीलकालमहाकालनामानोऽजनिषत । ततः
क्रमेण नीलजन्मनि गजसैन्यं रोगोपदवेण मृतं, कालजन्मनि हयसैन्यं मृतं, कालकालजन्मनि अग्नयाद्युपदवेण सर्वा कठद्विनष्टा,
महाकालान्तरे शत्रुभिः संभूय राज्यं युहीतं । ततो राज्यऋष्टः सहीपुत्रः शांतनः क्रसेणाटन् सुराश्वायां शात्रुञ्जयी
नद्यासन्नपर्वते स्थितिं कृत्वा बहुकालं निरगमत् । तदानीं पुत्रा अप्याखेटकादिव्यसनोदयता दुष्कृष्टाद्यामयादिता जाताः । ततो त्रुपति
दुःखादुरो झंपापातेन मरणार्थं पर्वतमारुरोह । तत्र संप्रत्यहैत्यं हस्ता गंतुकशंबलार्थं जिनानानामोक्तविधिनाऽपूजत् । अत्रावसरे
तत्रागतेन तस्य युजाविधिकौशलं वद्धा विस्तेन धरणेंद्रेण बहिर्निर्गतः सन् पृष्ठे त्रुपः स्वामिप्रायं कथयतिस । ततो धरणेंद्रो
वालमृत्युं निवार्य तत्पुत्रपूर्वभवद्वृत्तांतं राज्ञेऽचीकथत् श्रुतु भी नरेन्द्र पूर्वस्वे प्रथमपुत्रेण चौरजातीयेन तीर्थयात्रार्थं गच्छन् संशो छंटितः
साधुश्व ठतः । द्वितीयपुत्रेण क्षत्रीयजातीयेन स्वतीहत्या कृता । तृतीयेन वणिकपुत्रेण तत्त्वनिदा कृता । चतुर्थेन च द्विजपुत्रेण देवदन्वय
गुरुद्वयं च चोरितं । ततो दुर्गतौ वहन् भवान् ऋत्विया अकामनिर्जया किंचित् क्षित्सकमर्णः क्रमेण चत्वारोऽपि जीवास्त्वत्पुत्रा

द्रव्य
तिकार्ति:

जाताः । अचशिष्टकमोदयाच्चेदं पापफलं लुभ्यन्ते त्प्रसंगतस्त्वयापि प्र॑ च । अतः सपुत्रस्त्वं एतत्तीर्थसे॑ कुरु । एतज्जलेन त्वा
चैत्यानि हृं पूजय, पिण्ड दिव्यं परायणो भव, साधूर् यथाशक्ति भक्त्या प्रतिलाभय, एवमादिप्रकारेण तत्त्वत्रयात्मावनेन
दुष्कर्मं क्षयं कृत्वा पणमासांते पुनः राज्यं पूर्य । तदा साधार्मिकत्वात्साहाय्यं दास्यामीत्युक्त्वा स्वस्थानं धरणेऽद्वे जगाम ।
नुपेणापि तैर्यव राज्यं लुभ्या क्रमेण सं शवनिर्वाणं लेमेऽत्र विरुद्धं शान्त्रुत्यमाहात्मयतो वौःयः । अन्वेषपि हृष्टां यथामं
भावया । इति श्रेयः ॥ ६७ ॥

अथ ग्रंथावसानेषि भद्रया त्साहयति—

जद्दृहित्वाणं, अहवा लोप॑ वित्थंडं किर्ति॑ । ता जि वरनिदिष्टे॑, विहिमग्ने॑ आयरं कुणाह ॥६८॥
अथ कविः॑ श्वाभिनिवेशं निरा यन्नाह—
तहविह भविवोहृ॑, भणिअं जं च विवरियं इह गंथे॑ । तं नोहंतु गीथत्वा, अनभिनिवेसी अमच्छरिणो॑॥६९॥
अथ ग्रथ समार्पि निगमयन्ते मंगलं दर्शयति—
तवगणगयणदिवायर, विजयार्द्दमाणसूरिरजंभि॑ । भाणुविजयबुहसेवग—वायगलावणविजयेण ॥ ७० ॥
गंथंतरगा हिं, महिथया दुर्वसितरी॑ ए॑ । भविअज बोहणत्थं, मंगलम् कु उ॑ निच्चं॑ ॥ ७१ ॥
॥ इति द्रव्यसितरी॑ पूर्णा॑ ॥

द्रव्य
तिकार्ति:
देवगुरुद्वय
विनाशि॑
महाकाळ
दृष्टांतो॑
॥ ५४ ॥

टीकाकार
प्रशास्ति:
॥ ५६ ॥

॥ अथ टीकाकार प्रशास्ति: ॥

वेदवेदोषिंच्छेऽब्दे, ईपस्य सितपक्षतौ । विच्व्रे तत्रवृत्तिश्च, लाचप्याठहयवाचकैः ॥ ३ ॥
याचन्महीमुगाक्षीयं, धन्ते वारिधिमेरवलाम् । वाच्यमाना बुधेज्ञियात्, सवृत्तिर्दण्डस्तस्तिः ॥ २ ॥
तकोदिशाल्लनियुणेवरायामुतसागरेः । शोधितेयं श्रिये श्रीमद्विद्याविजयकोविद्देः ॥ ३ ॥

॥ इति ॥



॥ इति श्री दण्डस्तस्तिकावृत्तिः समाप्ता ॥

उच्चस्त-
तिकाप्तिः
॥ ५५ ॥

॥ देवद्रव्याधिकरेऽन्यज्ञातानि तत्र—देवाक्षत—भक्षक—शुभमङ्गरेश्व्रेष्टिज्ञातम् ॥

अ तदस्तु देवस्य भक्षको दुः मार यात् । तत्ततो यत्नतो रक्षयं, देवद्रव्यं विवेकिभिः ॥ ५ ॥

स्पष्टाथोऽयम् लोकः । भावार्थस्तु भङ्गरजातेन ज्ञेयः—

पुरे शुभमङ्गरश्रष्टी धना गे नित्य जिनाचार्चिन्दनादिकं तुनोति । एकदा जिनमूर्ति नत्वाऽग्रे स्थितः तदा केनचित्सुरेण पूर्वं जिनाग्रे दिव्यपतण्डुला बहवः पुञ्जवधीकृतास्तेन इष्टाः । अपकालपि तान् सुगन्धीन् वीक्ष्य जिह्वाखादवर्णगतः श्रष्टी त्रिगुणाधिकान् स्वगृहादानीय तण्डुलास्त्र मुक्त्वा तान् दिव्यान् जगृते । स्वगृह एत्य तेषां तण्डुलानां क्षीरमपाच्यत् । तेषां सुरभित्वं सर्वत्र प्रसुतं । इतश्च तदगृह एको मासक्षणः सुविहितमाधुर्मिक्षार्थं समेतः । श्रेष्ठिना क्षीरमङ्गाव फिक्षिवहत् । मुनिस्तु परमार्थमविदन् तमाहारं जोलिकाणां मुक्त्वाऽग्रे चचाल । तदा मुनिस्तु सप्तचत्वारिंशतोपुरुक्ताहारी अत एत शुद्धोष्टकधरस्तदयोग्यशनगन्धागतमहिम्ना दद्यो—“अहो महेभ्यावतारः श्रष्टोऽसदपि, यत्रेदं मनोहरमशनं यथेष्टं स्वेच्छया नित्यवानं (भोजयं) भवति” एवं तदाहारगतगन्धेन चारिच-हयानं मुनेदूरं गतं । इत्थं गुरुपाश्चमगाव तत्र च दद्यो—“किं गुरुसमक्षमाहारालोचनेन ? अद्य लूचिराहारोऽस्ति, लोमेन यदि स्वयमेवाहरेतदाऽग्रं किं चे ? आलोचनयाऽलं” । ततः शीघ्रं स शिष्यो भोजनार्थं स्थितो दद्यो—‘अहो अस्य स्वादो देवानामपि दुँभः, अद्येवं प्राप्तमवस्य सारी इष्टाः, एतावन्ते कालं यावन्मया देहो दमितः कुशीकृतश्च, एताद्वागतनं नित्यं लभ्यते तस्येव सफलं जन्मेति’ ततस्तदाहारं भक्त्वा उर्धं सुप्तो निर्दा प्राप आवश्यकादिक्रियाकालेऽपि नोतिथतः । तदा ऋसीशो दद्यो—“नूनं सदा सुविनीतोऽपि

परिचित
शुभदृष्टि

अयमैवैत प्रमादी जातः, तत्कारणमशुद्धाहारकरणमेव भावि ॥ । ततः प्रभाते स श्राद्धः स्मरीँ चन्दनताय समेतस्त्रं मूर्ति शुसं वीक्ष्य
हेतुं प्रचल्ल । ब्रह्मः प्राह—“ कलये आहारं कुत्तवा सुसः, उथापितोऽपि नोचिष्ठति ” तच्छुत्वा श्रेष्ठशुत्वा—हे पूज्य ! आहारस्तु
कलये म दृग्गीतो ~ ” । गुरुः —८ । होऽपैर्विं । प्र लाभितो न ? ” स प्राह—“ दो
न ह्व तः, परं जिन च । धिक्कानन्याऽ । गृहीतोः ” ९ भद्रकत्वात्सर्वं शुचान्तं । श्रुत्वे रुः ।

जिण तिकरं, पभावगं णादं पा । खंतो ति दन्वं, अणांतसंसारिओ होइ ॥ १ ॥
यणबुद्धिकरं, पभावगं गुणाणं । रक्ष गो जिणदन्वं, परित्तसं गरिओ होइ ॥ २ ॥
शु हे द्व ! कवि श्रितपुरे एक इभ्यः प्राति रिमकमेकं इ ते । स :स्वो दःयी—“ गो मतुलयः
सातथाऽहं ” । तत एक ६ मिभ्य वृष्टा चैत्यगृहे का तेन भित्यां प्रचल्लं यितः । क्रमेण तद्गृहे
वसनिमयोःस्वोऽभवत् । तदा स निःश्वः —“ मद्दिडम्बना लं त्वयेदं । मह मवेहि ” । : हृष्यः
समतोषयत्, ततः स खक्तयं ॥ । इभ्येन तमिह खण्डं मित्तितो निकास्य यदि पदे नृत्नं चैत्यं विदधे, तदा नः
सुखी चभूव । त त हे श्रेष्ठिन् ! त्वं हिन्दं भक्षितं, नो महत्पापं लग्नं ” । तच्छुत्वामीतः श्रेष्ठी—“ हे पूज्य ! ममापि
कलये एव बहुदृढ्यहानिर्जाताऽस्ति ” । द्वरिज्ञो—“ हे श्रेष्ठ ! , मुनोः पुनरानन्तरं विनां । ब्रालोचना-
पदेऽप्य तव हे द्वन् ते तद्वयेन चैत्यकरणे भोडस्ति ” । ; श्रेष्ठिना त । : श्रेष्ठिना त । : श्रेष्ठिना त । :

तिकावृत्तिः
॥ ५८ ॥

पायथित्वा शिष्यकोष्टकं द्वं चकार, तदहारणा पि गोमयरक्षालेपमयं कुत्वा दिनत्रयं यावत्सातपस्त्वले मुक्तं, ततो ग्रासं जातं स्वरि-
शिष्यत्तपाप तपसाऽलोच्य संयमेन ऋत्वात्मसाधनं समाराघयत् ॥ इति शुभङ्करश्चैः॒ ज्ञातम् ।
आद्वो भो य देवस्वं, कृत्वा मूर्खं समाधिकं । नादव्याक्रीव दातव्यं, आद्वानां च परस्परम् ॥ १ ॥

उद्यापनादावपि ग्रौढाडम्बरेण न मणिडते जने बहुक्षाघादि सान्निकंयं स्तोकं ति इति व्यक्तं एव दोष इति यद्वृ-
द्धिद्वारे गाथायामुक्तं तत्रायेऽ आद्वद्विधिगदितं लक्ष्मीवर्तीज्ञातम् । यथा—

सा महर्द्विधीमिष्ठा महत्वार्थिनी स्तोकस्तोकनिक्यार्पणेन विविधोशपनादिपुण्यकायार्थी ग्रौढाडम्बराण्यजासुं करोति कारयति च
देवादिद्रव्यं वद्वयन्त्यस्मि, प्रभावनां च ग्रौञ्जम्भयन्त्यस्मीति धिया । एवं श्राद्धयर्पमाराघय मृता स्वर्गतापि प्रज्ञापराघदोपाद्वीनसुरी-
त्वेनोत्पत्ता, क्रमाच्छ्रुता महेभ्यस्य निरपल्यस्य मान्यत्वेनोत्पत्ता । परं तस्या गर्भस्थत्वे मातुः सिमन्तमहः परचक्रभयोदेकेण जन्म-
षष्टी—नामस्थापना—ग्रौण्डनादिमहाश्र नुपत्यमा दीनां गृहे शोकोत्पत्त्या नाजायन्त्र पित्रा ग्रौढ—ग्रौठतराडम्बरेण प्रारब्ध्या अपि ।
तथा भणिस्वर्णाभरणानि सर्वाङ्गिणा पित्रा दर्दं कारितान्यपि तया दिनमात्रमपि परिधातुं नाशकयन्त त्वेनादिमयेन । एवं भोज-
ननेपञ्चपदावपि ग्रायो यद्यत्सामान्यं तत्तत्स्या आ ती सर्वत्र मान्यत्वेऽपि प्राकर्मदोषेण । तदुः केनचित्—
य एव गुज्जन न दोसो, दोसो अम्हाणपुनर्कमणं । रंणायरंभि भरिए, सालुरो हतिथ मे लगो ॥ २ ॥

परिशिष्टे
॥ ५८ ॥

लक्ष्मीवर्ती
ज्ञातम्

इन्द्रस-
तिकावृत्तिः

अस्या एकोऽपि महो न जातोऽस्तीत्याऽङ्गवरेण पित्रा तस्या विवाहे । विधीयमाने लग्नासत्तो माता सूता तेन निरुत्सवं प्राण-
ग्रहणमात्रमजनि । महेष्योदारश्वशुरगृहगमनेऽपि मान्यत्वेऽपि च श्राव्यनवनवभयशोकमान्द्यादिना मनोऽभीष्टमोगमुखोत्सवादियोग-
स्तस्याः श्रायो नासीद् । ततस्तयाऽत्युद्दिश्या संविश्या च क्वचित् केवली पृष्ठः प्रोचे, “प्राप्मवे त्वया स्तोकनिक्यपर्णप्रोढाडम्बरद-
शनादिना हुक्मसीर्जितं तत्फलमिदम्” । ततः सा तत्पापमालोऽय प्रत्रङ्ग्य क्रमात् सिद्धा ॥ इति लक्ष्मीवतीज्ञातम् ॥ प्रकृते ऽप्मत्र
विशेषः—तस्मादुद्यापनडौकनादौ निष्क्यग्राह्यवर्तुलिकानालिकेर—मोदकदेयर्यावन्मूलयं स्यात्तावत्तन्निष्पादनानयनाचुप्रकमपदे तदत्तुसरोण
कियदधिकं चापणीयम् । एवं निष्क्यशुद्धिः । केनचित् सविस्तरोद्यापनादौ स्वनामना मणिडतेऽप्यकशक्त्याद्यभावात्तुप्रापनाचारस-
ल्यापनार्थं कश्चिद्यावन्मूल्यत्वं तावतापि न दोषः ॥

सकलपण्डितमुकुटायमान—विद्वद्वन्य—मुनिमतल्लिका श्रीमत् सोमधर्मगणिविरचितोपदेशसप्ततिः कथानकद्रव्यम् ॥
कुर्वन्ति देवद्विणोपभोगं, ये ते नरा दुर्गतिगामिनः स्युः ।
कथानकान्यत्र वहुनि सन्ति, तथापि दिग्मात्रमुदाहिषेत ॥ १ ॥
इह खलु एकान्तश्रीदेवगुरुभक्तिकारकेण विशुद्धश्रीसम्यक्त्वमुलदादशवतथारकेण सुश्रावकेण देवसम्बन्धिद्रव्योपभोगः सर्वथा
न कार्यः, स्वपरसमयनिषिद्धत्वाद् वहुदोपसम्भवाच—
देवदर्शेण या वृद्धि—गुरुदर्शेण यद्दूनम् । तद्दूनं कुलनाशाय, मृतोऽपि नरकं व्रजेत् ॥ २ ॥

परिशिष्ठ-
लक्ष्मीवती
ज्ञातम् ॥
६९ ॥

एकमणि क मध्यीजं भारस माणमणि गुडं विनाशयति, विषय लवीडपि परमाम्बुदं ल सर्वेषाम पश्योगि किं न
धने? यन्ते च केऽपि मूर्खा देवद्रव्येण व्य दि छर्वतः, कदाचित्ति त्वे ते देवद्रव्य । यिमित्तद्वद्वयपश्चान्मा-
गणे एवं वदन्तो यथा—न सन्ति स सत्पार्थं इम्मा; पितृ नीयो ५ कं फः, न ~ पिठु . पुत्रा किमपि अनादे-
यम्, इत्यादित्तप्रलयिनो वरा स्तेऽनन्तं न्तसंसारक्षेशभाजनं निति केच्चतु धनवन्तोऽपि महत्त्वस्पृहय वः प्रभूतसमुदायमये-
चहुद्युम्परिहितेऽद्भुता लभ्यी चहुदेवद्रव्या अपि तन्मागणे दीनमेव भाषन्ते, मनसापि तदप्येण न वाऽछन्ति । देवस्य ~ म-
प । चिय सन्ति । देवस्तव मधिको मम किं न्यूनो, यदा विलोकयिष्यते तदानीमर्पयिष्या , इत्यादि काळक्षे-
पमेव कुर्वणा उल्लुण्डवादिनस्तेऽपि तेषामेव प तौ वेग्नीया:

चिश्वपुरे क्षेमक्षरो रा तस्य गन्धरः १ सोऽन्यदा चने यापि नेः केवलज्ञानोत्सं देवैः क्रियम् व्यष्टा
तिस्मृतिस्तेऽद्वोपश्चर्वारयो देवतादत्तवेषः वाज वन्दितो राजाद्यैः विजहारव्यसुन्वरावलये, चक्कार भूयांस्य तपांसि । अन्यदा
तस्य मुनेः ध्यानाधिरुद्धस्य ध नमुत्पेदे । आगतस्तत्रैव पुः । राजादयो वन्दितुं ग ;, प्रारब्धा ते पि घर्मदेशाना, तत्र चा-
क्षसरे कोऽपि कु सर्वे रो जघानीव, मधिकाणां पितृगृहमिव, पदे पदे चालकाद्यैरपि गदिमिकुपहन्प सुः । राजादयश
त शदुर्द निप तं दद्यता त व्य . मुने: पांशुं पृच्छन्ति । निः प्राह— मपुरे नन्दनागदेवै दो आतरौ । बुद्धो न्य-
रे ;, अपरस्तु परीतः । अन्यदा तमगराधिपेन रितजितमनिदरे देवद्रव्यरस्थाय नियु ते,
देवः श्रीण गोऽन्तरान्तरा लेजतव्या लं रस्त्वं देवद्रव्यं शुद्धके ।

—

द्रव्यसम-
तिकाङ्क्षिः

॥ ६२ ॥

जिणपवयणतुङ्किरं, पभावगं नाणदसणएणां | भक्षंतो जिणदब्वं, अणंतसंसारिओ होइ ॥ १ ॥
जिणपवयणतुङ्किरं, पभावगं नाणदसणएणां | रक्षंतो जिणदब्वं, परिचसंसारिओ होइ ॥ २ ॥
जिणपवयणतुङ्किरं, पभावगं नाणदसणएणां | बहुतो जिणदब्वं, तित्थयरतं लहइ जीवो ॥ ३ ॥
इत्यादि बहुप्रकारश्रीआगमोक्तचाचोयुक्तिमित्तिचारितोऽपि याचता लघुन्त तिष्ठति, ताचता बृद्धश्चिन्तयति स्म ग्रातभूपाय निवेदीय-
व्यामीति । अत्रान्तरेऽकस्माच्छ्लेन रात्री मृताः व्यवहारिणः सुतो जातः । तत्र भवे भव्यान् भौगान् भुक्तचाप्रान्ते वत्त लात्वा ग्राण-
तकलये देवो जातः । एवं सप्तभवान् दीक्षामारात्र्य अच्युतादिषु देवत्वेन समुत्पद्य च क्रमेण सोऽहं युष्मतपुत्रो युग्मन्त्वरो जातः ।
नागदेवस्तु तस्मिन्देव भवे विज्ञातस्तरुपः सन् राजादिभिर्भूत्य गर्हितः । भक्षितदेवदन्यपदे गृहीतगृहसर्वस्वश्च ग्रान्ते गोडशवर्पणि
रोगात्मः चोषदव्याप्तिणाय मुतानां कथर्यित्वा मृतः । पूर्वाभ्यासतश्च ग्रतिभवं तथैव कुर्वन् सप्तसु नरकेषु तिर्यग्भवान्तरितो आम-
आम एष चराकः कुष्टी जातः यदुक्तम्—

भक्षणे देवदब्वस्स, परत्थी गमणेण य । सचमं नरयं जंति, सत्तवागाउ गोयमा ! ॥ १ ॥

इति श्रुत्वा स कुष्टी जातिस्मृतिं प्राप्य आलोचितसकलपापः, ग्रान्ते ग्रपचानशनो मृत्वाऽन्त्युते देवो जातः । क्रमेण महाविदेव
गोक्षङ्गमी । स च युग्मत्वरग्राजर्षि क्रमेण सिद्धिसौधमङ्गास्त । इति देवदद्वयरक्षणे परिभ्वर्णे च नन्दनागदेवयोद्घटान्तः ।

देवदद्वयपरिभ्वर्णे परसमयोक्त कुकुरदृष्टान्तः—

परिभ्वर्णे
नन्दनाग-
देवचरित्रम्

॥ ६२ ॥

प्रभारवे मा मर्ति कुर्यात्, प्राणैः कण्ठगतैरपि । असिद्धया: प्रोहन्ति, प्रभादय्या: पुनर्नहि
 परिशिष्टे
 श्वानकथम्
 श्वानकथम्
 नकम्
 नकम् ॥ ६२ ॥

पुण जगत्रायाभीष्ट-नामा श्रीरामभूपतिः । पुर्यमयोऽयायां, सामाजिकं पर्यपालयत् ॥ ५ ॥ तदेकः कुक्कुरः कश्चि-चिविष्टो राज-
 नर्मनि । केनचिद्दत्तवृत्तुणा, कक्षरेण हतः श्रुतो ॥ ६ ॥ श्वा निर्यल्लोहितो त्यारय-स्थान गत्वा निविष्टवान् । भूपेनाहृष्य पुटोऽवग्,
 निरागः किमहं हतः? ॥ ३ ॥ तद्वयातकं ब्रह्मपुरं, तत्रानारय तुपोऽवर्वीत् । असौ तद्वयातको ब्रूहि, कोऽस्य दण्डो विद्या ते ॥ ४ ॥
 श्वाऽन्नोचदस्य लुदस्य, माठापत्ये नियोजयताम् । क एष दण्डो राजेति, भाषितः श्वा पुनर्जग्नी ॥ ५ ॥ प्रागह सप्त जन्मस्य; पूजयित्वा
 सदाचिच्छिवम् । देवस्वश्रीत्या प्रक्षालय, पाणी भोजनमाचरम् ॥ ६ ॥ इत्यानानायमन्यदा लिङ्ग-पूर्णो लोकठौकितम् । विकीणानस्य काठि-
 त्या-ब्रह्मान्तः ग्राविशन्मम ॥ ७ ॥ विलीनमुण्णभक्तेना-जानता तन्मयाहृतम् । तेन दुष्कर्मणा सप्त-कृत्यो जातोऽसि मण्डलः ॥ ८ ॥
 सप्तमेऽस्मिन् भवे राजम् ! जात जातिस्मृतिर्मम । अथुना त्वत्प्रावेण, जाता वामसम मात्रपी ॥ ९ ॥ एवमज्ञ तो शुक्रं, देव दुःख-
 काणम् । रक्षणीयसतस्तद्विद्धि, विवेकद्वैः स्वशक्तिः ॥ १० ॥ अधिकराज्ञिभिर्मसे-मर्तापत्याज्ञिमिद्दिनेः । चीरं नरकवाङ्माचा चेत्,
 दिनमेकं पुरोहितः ॥ ११ ॥ विन्द्याटवीष्वतोयामु, एककोटरचासिनः । कृष्णसप्तः प्रजायन्ते, देवदायोपहारिणः ॥ १२ ॥ एवं देव-
 द्रव्यरक्षाचिनाचे, श्रुत्वा भव्याः । सपष्टह नत्युग्मम् । कार्यो यत्स्तरस्यरक्षाचिद्याने, संसारः स्याद्वो यथा श्रीघ्रमलपः ॥ १३ ॥

इति देवद्रव्यपरिभोगे परस्मयप्रसिद्धं श्वानकथम् ।

परिशिष्ट
देवादिदृश

विप्रया:
पश्चोचताः
॥ ६३ ॥

सुकलस्तुर्दिपुरन्दरमभुक तपागच्छगगताङ्गणन भोमणिगच्छाधिराजभदारकश्ची ५

श्रीचिजयसेनस्तुरिप्रसादित—सेनप्रश्नतः देवादिदृश्यविप्रया: प्रश्नोत्तरः—
प्रश्नः—मालासम्बन्धिं खण्ठरजतस्त्रादि सर्वं देवदृश्यं वा ज्ञानदृश्यं वा साधारणदृश्यं वेति । उत्तरम्—तत् सर्वं देवदृश्यमिति
सम्प्रदायः ॥ सेनप्रश्न ० २ उल्लास म० ३२ प० आनन्द विऽ

प्रश्नः—ज्ञानदृश्यं देवकार्यं उपयोगि स्यान्नवा ? यदि द्यातदा देवपूजायां प्रासादादौ वेति । उ० एकत्रैव स्थानके देवरिक्तं
क्षेत्रदृश्यामेव तु श्यापनीयं श्रीसिद्धान्तो जैन एवं ब्रह्मीति ॥ १ ॥ एतत्काव्यमुपदेशासप्रतिकाप्रान्ते
इति, एतद्गुसारेण ज्ञानदृश्यं देवपूजायां प्रासादादौ चोपयोगि भगवतीति ॥ रो० २ उ० प्र-८४ प० कनकवि-कृतप्रश्नः । उपदेशस-
मितिकान्तरगतपठस्त्वेम्—ज्ञानदृश्यं यतोऽकल्पय, देवदृश्यवद्यते । साधारणमपिदृश्यं, कल्पते सञ्चासम्मतम् ॥ २० ॥ श्रीमद्भुजनार्थि
तददृश्य, सप्तशेष्यां जिनाज्ञया । उपनीयं न देयं हु, मार्गणादौ यथा तथा ॥ २१ ॥ यतः—
एकत्रैव स्थानके देवविक्तं, क्षेत्रदृश्यामेव तु ज्ञानरिक्ष्यम् ॥ सप्तशेष्यां श्यापनीयं वर्तायं, श्रीसिद्धान्ते जै(ज्ञिन)त एवं ब्रह्मीति ॥ १ ॥
जातु ज्ञानादिसम्बन्ध-दृश्यमोगो भवेतदा । तत्पदे निजवित्तानि, देयानिदिगुणान्यपि ॥ २२ ॥ इति उपदेश०, ९ अधि०, १७ उप०
प्रश्नः—देवदृश्याधिकारे कथं श्राद्धेऽवदृश्यव्याहृत्वं कर्तुं शक्यते, यदुक्तमागमे—‘ भगवंतो जिणदानं अणंतसंसारिओ भणिओ ’,
इति ज्ञानब्यतिरिक्तानां यन्त्वन् तेषां संसारव्याहृत्वं प्रति कारणं भवति, न हि विष्णुं कस्यापि विकारकृतं स्थाव सर्वेषामपा
यकृदेव स्यात्, ग्रन्थान्तरे आलोचनाधिकारे मूषकादीनामपि दोषोत्पत्तिरुक्तास्ति, तदत्र का वृद्धि प्रतिरीतिरिति अन्नोत्तरं-मुख्यह-

द्वयस-
त्रिकाहृतिः
॥ ६३ ॥

परिशिष्टे
देवादिदृश्य
विपया:
प्रश्नोचरणः

नया श्राद्धानां देवदृश्यस्य विनाशनं एव दोषः, यथाकालमुच्चितव्याजदानपूर्वकं ग्रहणे तु न भूयात् दोपः, समधिकव्याजदाने पुनर्ही-
पाभावोऽवसीयते, तेन तेषा यचदर्जनं तर्जितःशूक्रतादिदोषपरिहाराश्च व्रेयम् । किञ्च-शूक्रतादिदोषपरिहाराश्च व्रेयम् ।
तदशादिदेशनादानादौ सायोरपि मवदुःखं च शाब्दं दर्शते स्त्रीः, तेन तदभिज्ञाना श्राद्धाना तस्याव्यापारणमेव योगित्क, मा कदा-
चित्प्रमादादिना स्वल्पोऽपि चटुपभोगो भवत्विति सुखानस्यापनप्रत्यहं सारादिकरणपुरस्सर महानिधानवत्परिपालने च तेषामपि न
कोऽपि दोपः, किन्तु तीर्थकृत्त्वामकमर्मनिवन्धनादिवर्तुलाभं एवेति, इतरस्य तु तद्वागदोपानमित्रस्य निःशूक्रताद्यसंभवाद्वृद्ध्यर्थ
णग्रहणपूर्वकं समर्पणे न दोष इति तथा व्यवहियमाणमस्तीति सम्भावयते मूषकादिषु तु वृद्ध्याद्यर्थं समर्पणव्यवहारा भावात्तेषा
तद्वक्षणे दोष एवेति ॥ से० उ० १५६ पं जयचित्यगणिकृत प्र० ।

प्रश्नः—कश्चित् श्राद्धः स्वदृश्येण प्रतिमाकपुर्देवदृश्यं पुस्तकलेखकस्य ज्ञानदृश्यं च लगति नवेति ।
अत्रोत्तरं—उभयोरपि यथाकमं ते उभे न लगते इति सम्भावयते । से० उ० २ प्र० १९७ पं० दंचविजयगणिकृत प्र०

प्रश्नः—गृहचैत्ये यदि केनचिदर्दहर्ता भूषणानि रितानि लान्तरे च स गृहस्थो गृहकार्ये आपतिते तानि व्यापारयति तदा
कलपन्ते नवेति, उ रम्—यदि देवाथमेव कारितानि तदा न कलपन्ते यदा तु धारण्यन कारितानि तदा कलपन्ते, अत्राभिप्राय
एव ग्रमणमिति । से० उ० ३ प्र० १६९ पं० चिनय शालगणिकृत प्रश्नः ।

प्रश्नः—सप्तश्वेत्वकृदृश्यान्तः साधुसाध्वीद्वयस्य व्ययः सा इच्छीना कस्मिन् नि योजयते आद्वैरिति, अत्रोत्तरम्—सप्तश्वेत्वमुक्तद-
व्यस्य व्ययः साधुसाध्वीक्षेत्रयोरापत्राणवेच्च चन्तमार्गसहायकरणादिषु श्राद्धैः कर्त्तव्यत इति ॥ से०उ० ३प्र० २७२पं—पञ्चाविजयग्र०प्र०

इत्यसप्त-
तिक्रम्युचिः

प्रश्नः—देवदन्य बृह्दिकृते द्वैसत्स्यं व्याजेन गृहते न वा ह तद्वाहकानां दूषणं किं भूषणमिति । अंत्रोत्तरम्-
द्वानां देवदद्वयस्य व्याजेन ग्रहणं न यूजते, शुक्रगा प्रसङ्गात् न वाणिज्यादौ व्यापारणीयं स्वरूपं पि देवदन्यभोगस्य सङ्का-
शसम्बन्धादिवतीवायतो दुष्टविषा करतया दार्शितत्वादिति ॥ से० उ-३ प्र-३७४ पं० पञ्चविजयकृत प्रश्नः ॥ ६५ ॥
प्रश्नः—केनापि स्वगृहं जिनगृहे , श्राद्धः कोऽपि . दत्त्वा तिष्ठति न वेति उत्तरम्—यद्यपि साधिकभाटकप्र-
द पूर्वकम् निनेदोषो न तिं, तथापि तथाचिद्वकारणमन्तरेदं युक्तिमन्त्रं प्रभाति देवदन्यभोगादौ निश्चकताप्रसङ्गात् इति से०
उ० ३ प्र-४१६ पं०-हर्षचन्द्रकृत प्रश्नः ॥

प्रश्नः—उपाश्रये सांवत्सरिकादिप्रतिक्रमणावसरे यद्युप्तुण्टैलादि न्यते तदेवदन्ये सा रणदन्ये वा समायाति इति,
म्—यथाप्रतिञ्च देवदन्ये धारणदन्ये वा समायातीत्यवधेयम् ॥ से०उ० ३ प्र० ४३२ पं० चि चि यगणिकृत प्रश्नः ॥
प्रः—श्राद्धा देवदन्यं व्याजेन गृहकृति न इति । उत्तरम्—महत्कारणं विना न गृहन्ति इति ॥ से० उ० ३ प्रश्नः ॥
४१२ गणिजीविजय कृत प्रश्नः ॥

प्रः—जिनालयक तुः आत्मीयं दीयते न इति । उत्तरम्—जिना पकेन स्वकीयकार्यं न कार्यत
इति ॥ से० उ० ३ प्रश्नः ४१३ गणिजीविचित्रं प्रः ॥
प्रः—ज्ञानदन्यम् ग्रीदन्यं च जिन यें आयाति न वेति । उत्तरम्—जिनालयकार्ये विइति अक्षराभ्युपदेश-
चिन्तामणी सन्ति, अ रिदन्यं महत्कारणं विना न याति इति ज्ञायते ॥ ०उ० ३ प्र० ४१४ गणिजीविचित्रं कृत प्रश्नः

द्रव्यसत्त्व-
तिकार्यानि:

प्रश्नः—ग्रातदोक्कडकपुण्पाणि मालिकपाश्चाद् गृहीत्वा जिनप्रहिमायाश्राप्यते, मालिकस्य तदद्रव्यं ने धान्यवस्थादिकं समर्पयते तदपर्येण च दोक्कडशकमुद्भरति, तदद्रव्यं देवसत्कं मालिकस्मवनिधं वा इति । उत्तरम्—शतदोक्कडपुण्पाणि गृहीत्वाभान्यादिकं समर्पयते, तदपर्येण कडकोशोरेकेण यदुद्भरति तदुद्भवद्रव्यं भवति न हु मालिकस्य, यतो लोके शतदोक्कडपुण्पचटापनयशोबादो जायते त इन्द्र-नचटापने दोषो लगति, तदुद्भरितं द्रव्यं देवद्रव्यमध्ये प्रशिष्यते तदा दोषो न लगतीति ॥ स० उ० ४ प्र० ९१ वटपल्लीयसञ्ज्ञकृतप्र ॥

प्रश्नः—इन्द्रयलिङ्गिदन्यनिष्पन्नचैत्यमविधिचैत्यमित्या गोक्किः, पुस्तकादिक्षेत्रेषु तदद्रव्यवापरणं युक्तमयुक्तं वा ? यदि युक्तं ताहं चैत्ये कथमयुक्तं ? तदर्पितं पुस्तकं सुविहिते: कथं गृह्यते इति, तथा कैश्चिचिरन्तनाचायैः शिथिलपथमपास्य स्वद्रव्यानीतमुक्तापाटलं लेषु नाचूणीकृतं उग्रविहाराङ्गीकारसमये, यदि तदद्रव्यं पुस्तकादिषु कल्पनीयमभविष्यत तदा मुक्ताफलचूणीनेत तदाद्रव्यविनाशनं नाकारियदिति । उत्तरम् चैत्यमाश्रित्य विष्यविधिविचारः शालेषु ग्रोक्तोऽस्मि त न हु पुस्तकमाश्रित्य, तेन न तयोः साम्यम् तत एव च परम्परयापि तदपुस्तक गृह्णमाणमस्तीति न काऽप्यतुपपाचिः । यच्च कैश्चिचिरन्तनदर्शनिभिः सुविहितम् झौकारे मुक्ताफलाति लेषु नाचूणीकृतानि तदुप्रवैराग्यवत्तारव्यापनार्थमिति न काऽप्यतुपपतिरिति ॥ स० उ० ३ प्र० २९८ पं—कीर्तिविजयगणिकृतप्रश्नः ॥

प्रश्नः—तीर्थं यन्नालिकेशादिद्रव्यं मानितं तदेव मुच्यतेऽन्यद्वा इति । उत्तरम् गृहेश्वरादितीर्थं मूलविधिना यदेव मानितमभूत् तदेव मुच्यते, कारणे तु यथा देयं न भवति तथा कर्त्तव्यमिति ॥ स० ३ प्र० ४४ पं० धीरकुशलगणिकृतप्रश्नः ॥

प्रश्नः—गोप्रयुतिजीवमोचनाय द्रव्यलिङ्गिनां द्रव्यं ग्रहीतुं कल्पते न वा इति । उत्तरम्—ज्ञानादिसम्बन्धिद्रव्यं न भवति तदा गृह्यते पेशो नो नास्ती । स० ३ प्र० ४६९ पं० नाकरिष्णगणिकृतप्रश्नः ॥

परिक्षिकै
देवादिदक्षु
विषयाः
मःसोच्चरणः
॥ ६६ ॥

सूक्ष्मसति-
लिकायाः ॥ ६७ ॥

पुष्टि	पक्षि	अशुद्ध	शुद्ध	पुष्टि	पक्षि	अशुद्ध	शुद्ध	पुष्टि	पक्षि	अशुद्ध	शुद्ध
१	३७	स्थिततत्त्व	हिततत्त्व	१६	२	दुःख	दुःख	३१	१२	दुःख	दुःख
२	३	श्रीविरजि	श्रीचिरजि	१६	४	तिंग्हेव	—	३२	८	३ मो	१५ मो
२	८	जाया	जया	१७	८	(साधुसूरि)	[नाधुसूरि]	३३	१	साहजे चहुह	साहजे चहुह
२	१४	दोपायति:	दोपापति:	१८	०	लियस	लियस	३४	१४	सुहिं	सुहिं
४	१	शिक्षमयोजका	शिक्षाप्रयोजका	२०	१०	फलादि दध्या—	फलादि दध्या—	३५	१	सुहेण	सुहेण
२	४	स्थेद्वारैरेतस्य	स्थेद्वारैरेतस्य	२१	१	तुणगवृह	तुणगवृह	३६	१	तकर	तकर
२	८	तेगेयमि	त ऐयमि	२१	६	चत्व	चत्व	३७	१	अहण	अहणम्
२	८	छावक	छावक	२२	४	दष्टि	दष्टि	३८	१	उर्कं चा	उर्कं चा
२	३४	कार्यं कारण	कार्यंकारण	२३	३	कर्मतियमा	कर्म नियमा	३९	२	युष्मानि	युष्मानि
६	१३	इयाजादी	इयाजादि	२५	७	परित्तसंसा	परित्तसंसा	३०	१२	पादः	पादः
७	३	दानोपेक्ष	दानोपेक्ष—	३०	२	तहंति	तहंति	३८	१२	सम्मादि	सम्मादि
१२	११	पूर्वं	पूर्वं	३१	३	चुवा	चुवा	३९	१२	देश्यते	देश्यते
१२	१२	साहार्यं	साहार्यं	३१	५	नजेत्	नजेत्	४५	१२	पूर्वतादिपि	पूर्व तादिपि

३५ इच्छाप्रतिकायाः शुद्धिपत्रकम्

॥ ६७ ॥

इत्युपाद्यायश्रीलोकाण्यविजयगणिविरचिता द्रव्यसमाप्तिका सञ्चाति: सम्पूर्णः ॥ ६८ ॥

उद्दिष्टप्रथमं
॥ ६८ ॥

पुष्ट	पक्षि	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पक्षि	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पक्षि	अशुद्ध	शुद्ध
५१	२	सकंशो	सकांशो	५९	११	देव	देव	६३	११	देयानिदिगुणा	देयानि दिगुणा
५३	३	त्सपणा	त्सपैणा	६०	२	अनादे-	अनादे-	६४	३	भिजाना	भिजाना
५४	७	किञ्चित्	किञ्चि	६०	६	विजहारवसुन्धरा	विजहार वसुन्धरा	६४	११	साधारणता	साधारणता
५४	१०	ग्रन्थं समाप्ति	ग्रन्थसमाप्ति	६०	१४	वृद्धांता	वृद्धांता	६४	२	गृहीतवाधान्या	गृहीतवा धान्या
५५	८	हत्त	हत्तं	६१	१२	दद्यान्तः	दद्यान्तः	६५	७	लेलुनाचूर्णी	लेलुना चूर्णी
५६	१२	लुट्वाभीत	लुट्वा भीतः	६२	१	अधिकरा	अधिकरा	६६			
५८	५	महस्या	महस्या	६३	८	सम्भ्र	सम्भ्र				

महामहोपाद्यायश्रीलोकाण्यविजयगणिविरचिता द्रव्यसमाप्तिका सञ्चाति: सम्पूर्णः।

